विवेकचूडामणिः

[illegible] ।

अमावस्य=१ प्रतिपदा=२=छठ=३=नोमी=४
एकादसी=५=बीतापात=६=इनताथीं
उमदातुनमनाहृ=इतीश्रातुनबीचार
रवीवार=सुस्य=चंद्र कम्रणाम=
स्त्रजीतह०

पुरणब्रारी

॥ ॐ ॥

उतपत्तिः प्रलयंचैव= भुतानामगतिः=
अवगतिः बेतिविद्यां= अविद्यच=
सभवगवान्‌ईरितः स नमीं स्वाःयुत

ॐ ॥ वारुणेनसंमायुक्ता
मधु कृष्णत्रयोदशी=सानि
वारसमायुक्तासामहा वारुणी
स मृता= सुभयोगेनसयुक्ता
महामहातीवी स्व्याता गङ्गा
यां यदि त्नञ्यत् कोटि=सुर्य्यग्र
हैसमा= वरुणी बीचार ॐ

रामे प्रव्रजनं: बलेर्नियमनं= पाण्डुः=सुतानां बनं=
बृ भीनांनिधनं: नलस्य नृपतेराज्यात्परिभ्रशनं
च=कारागारनिवेसनंच मरणं सांच्चिंत्य लंङ्के
शवरे:नैकेनापिबितन्क्कु ताबिधिगतिपा
स्वाणरेखासरवे= १=

अवश्यंभाविभावानां प्रतिकारो भवे
द्यदि=तदादुखैर्नलिप्येरन्नलरामयुधि
ष्ठिरा= इति "पञ्चदशी=

ॐ॥
च्यारलेड़की = पंडीतां = ४ = च्यारासेतीजबाब
कहतीहै = नीत्यम्रजु होती = व्रतव्यणिचो
यमकरमडीन्ये दीन्ये = संत्रुमीत्रनजानं
तीतस्य कुनहुमबानीका = १ = दुसरीजबा
ब = कांटो कृरकु ह्याकर = हंसमरीसाहीय =
स्य = कुनहुमबानकि पंडी तलीज्याजोय = २
तीसरी कहतीहै = घणचोर = बीजलनपीन
जात्याफेरजल = तस्यघ्नरहुमबानीका
तोहांमुत्रासासकर = ३ = चोथीलड़की
कहतीहै = जड़ कांटेफलनहोतहै = फ
ल कांटे जड़ जाय तस्यबरहुमबानी
कापंडी तलीज्योजोय = ४ = चारुका
जबाब = सुन्यकर = पंडीतगंमहोया

श्रीः ।

विवेकचूडामणिः ।

श्री १०८ मत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यभगवत्पूज्यपादश्रीशंकराचार्य्यस्वामिप्रणीतः ।

व्याकरणोपाध्याय पण्डितचन्द्रशेखरशर्म्म विरचितया भाषाटीकया समलंकृतः ।

सर्वतंत्रस्वतंत्रेण 'रिसर्चस्कालर' पं० माधवाचार्येण परिष्कृतश्च.

गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,

मालिक—"लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस;

कल्याण—बम्बई.

संवत् १९८९, शके १८५४.

प्रणमः ३= तिनमहूरतसू नमहूव तो= चमोर
चतुरदसिन ठीकछ= यती द्व मप्रमाण-
श्रीमान् सेठ= गोविन्दराम= जीसे मसरिया
न्योतनगड=
मनका= व्रासंसारका नासदो प्रकारकाछ=
एकतो प्रर पनास= जीव मुकीम= पनो
वीदेह मुकीम= सर पनास= स्ती=
वृकेसाक्ष मसरीरकसाप जीवकोतदातम=
ध्याछ= सप्यन स्नीरकसाण संस्कारगाध्या सछ=



मुद्रक और प्रकाशक-

गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,

मालिक-"लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर" स्टीम्-प्रेस, कल्याण-बंबई.

प्रथम वक्तव्य।

भारतके प्रदीप्त मार्तण्ड अद्वैतवेदान्तप्रवर्तक श्रीस्वामी आद्य शंकराचार्य्य-जीमहाराजको कौन नहीं जानता ? देश विदेश सर्वत्र आपकी ज्योतिका प्रकाश स्वयं प्रकाशको जतला रहा है। सं. ८४९ सन् ७८८ के वैशाख शुक्ला-दशमी विभव संवत्सरमें शिवगुरु द्विजकी धर्म पत्नीसे कालरी प्रान्तके केपेली ग्राममें श्रीशंकरांशसे आप पैदा हुए थे। इन्होंने पहिले वर्षमें स्वदेश भाषा तथा दूसरेवर्ष पुराण श्रवण चौथे वर्ष सर्वज्ञता तथा पांचवे वर्ष गुरुसे उपनीत होकर अपनी सर्वज्ञता प्रकटकी ८ वे वर्ष सन्यास लेलिया, आपने ऐसी ही अल्पवयमें ब्रह्मसूत्र उपनिषद आदिके भाष्योंका निर्माण किया उसके पीछे इस विवेक चूडामणिको बनाया। जबतक सनातन धर्मका अस्तिंत्व रहेगा तबतक अखिल विश्वको आपका सादर स्मरण आता रहेगा। बुद्ध भगवान्के अलौ-किक त्यागोंके कारण सार्व भौम बनेहुए अहिंसा आदि बौद्ध सिद्धान्तोंकी प्रतिद्वन्द्वितामें श्रौत स्मार्त पथको विजयी सम्राट् बना देना आपकाही कार्य्य था। आपने भारतके भावी उद्धारके लिये चारोंकोनोंपर चार महामठ स्थापित किये थे जिनके गद्दीधर आजभी शंकराचार्य्यकी उपाधि धारणा करके लोकोप-कार करते रहते हैं। आपने अपने प्रिय अद्वैत सिद्धान्तको भूतलपर सदा स्थिर रहनेके लिये भगवान् वेदव्यासके ब्रह्मसूत्रपर शारीरिकमीमांसाभाष्य गीता भाष्य तथा उपनिषदोंके भाष्योंका निर्माण किया पर उनके अति-विस्तृत होनेके कारण आचार्य्य चरणोंको सन्तोष नहीं हुआ। उसीका फल यह विवेकचूडामणि है अपने तीनों भाष्योंका सिद्धान्तसार इसीमें दिखादिया है। यदि थोडे शब्दोंमें कहा जाय तो इसे शांकरसिद्धान्तोंका सारभी कहाजाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

ऐसे सर्व मान्य वेदान्तपीयूषका आनन्द, विद्वान् लोग तो लियाही करते हैं केवल विना संस्कृत पढे लोग इससे वञ्चित रहते थे। माझा महाराज बाबू हरिहरेन्द्र साहिबके कृपापात्र एवम् काशीके प्रसिद्ध मीमांसक स्वामी-मनीषान-न्दजी तीर्थके अन्तेवासी व्याकरणोपाध्याय पं०-चन्द्रशेखर शास्त्री रामपूर

(छपरा) ने महारानीके चित्त प्रसादनके भावसे प्रेरित होकर इसकी भाषा-टीका करके इस कमीको पूरा किया । पर इस टीकामें सिवा व्याकरणांशकी पदयोजनाके वेदान्तके पदार्थका प्राचुर्य्य नहीं था इस कमीको देख प्रेसके सत्वाधिकारी सनातन धर्मभूषण रावसाहेब सेठ रंगनाथजी, श्रीनिवासजीने लोकोपकारकी दृष्टिसे इस कमीको पूरा करनेके लिये मुझे प्रेरणा की । यह उन्हींकी प्रेरणाका फल है जो इसको इस रूपमें अद्वैतसिद्धान्तके जिज्ञासुओंके सम्मुख उपस्थित कररहा हूँ । इसके प्रत्येक विषयमें मूलकी आवश्यकताके अनुसार टीकाका संशोधन परिवर्तन और परिवर्द्धन किया गया है एवम् वेदान्तपदार्थका निवेश किया है जिससे कि, ग्रन्थका रहस्य पूर्णरूपसे जाना जासके । अद्वैत भाषासे अद्वैतका निरूपण, वेद भाष्यकार श्रीसायणाचार्य्य विद्यारण्य स्वामीनेभी अशक्य माना है फिर मुझ जैसे न कुछ आदमीके विचार उसपर पूरे पडसकें इसकी सम्भावना मात्रही है । यह केवल अद्वैत सिद्धान्तोंके रसिकोंके मनोविनोदके लियेही मैंने किया है । अतः मुझे क्षमा करते हुए अखण्डानन्द आनन्दामृतका आस्वादन करेंगे ।

विदुषां वशंवद—

सर्वतन्त्रस्वतन्त्र–पं०माधवाचार्य्य,

प्रस्थानत्रयीतपा[illegible]



श्रीः ॥

विवेकचूडामणिकी विषयानुक्रमणिका ।



इति विषयानुक्रमणिका समाप्त ॥



श्रीः ॥

विवेकचूडामणिः ।

भाषाटीकासमेतः ।



मङ्गलाचरण ।

सर्ववेदान्तसिद्धान्त-गोचरं तमगोचरम् ।
गोविन्दं परमानन्दं सद्गुरुं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥ १ ॥

मायाकल्पिततुच्छसंसृतिलसत्प्रज्ञैरवेद्यं जगत्सृष्टिस्थित्यवसानतोप्यनुमितं सर्वाश्रयं सर्वगम् । इन्द्रोपेन्द्रमरुद्गणप्रभृतिभिर्नित्यं हृदब्जेऽर्चितं वन्देऽशेषफलप्रदं श्रुतिशिरोवाक्यैकवेद्यं शिवम् ॥ १ ॥ नत्वा विघ्नविनाशकं गणपतिं वाग्देवतामीश्वरीं पित्रोरङ्घ्रिसरोजयुग्ममलं स्वाभीष्टसंसिद्धये । श्रीमच्छङ्करभिक्षुनिर्मितनिबन्धस्यास्य टीकामहं कुर्वे मध्यमदेशसम्भवगिरा भूयान्मुदेऽसौ सताम् ॥ २ ॥ मनीष्यानन्दतीर्थेषु क्षालितां मतिमात्मनः । विवेकचूडामणिषु नियुंक्ते चन्द्रशेखरः ॥ ३ ॥ यद्यप्यगाधबोधानां विदां नोपकरिष्यति । तथाप्यसावृजुधियां बोधायात्र ममोद्यमः ॥ ४ ॥ निर्दोषे दोषमुत्पाद्य सतामाचरिते मृषा । विस्तारयन्त्यपयशस्तान् खलान् प्रणमाम्यहम् ॥ ५ ॥

सोरठा ।

शंकरचरणदिनेश, मम हियवारिजकोशको ।
विकसित करै हमेश, अज्ञानज तम दूर करि ॥

भगवान् शंकराचार्य्यके चरणरूपी सूर्य, अज्ञानसे होनेवाले तमको दूर करके मेरे हृदय कमलके कोशको सदा खिलाते रहें । विवेक चूडामणि निर्विघ्न पूरा होजाय इस लिये ग्रन्थकार श्रीआद्य शंकराचार्यजी आलङ्कारिक ढंगसे भगवान् और अपने गुरु दोनोंके नमस्काररूपी मंगलको करते हैं--जिसका प्रतिपादन सभी वेदान्त करते हैं जो अनात्मारामोंका कभी विषय नहीं हो सकता उस परमानन्द स्वरूप श्रीभगवान्को तथा सब वेदान्तोंके सिद्धान्तोंके ज्ञाता जितेन्द्रिय सच्चिदानन्द स्वरूप आत्माके साक्षात्कारवाले सद्गुरु श्रीभगवद् गोविन्दपादाचार्य्यजी महाराजको मैं प्रणाम करता हूं ॥ १ ॥

जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता
तस्माद्वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्त्वमस्मात्परम् ।
आत्मानात्मविवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मात्मना
संस्थितिर्मुक्तिर्नो शतजन्मकोटिसुकृतैः पुण्यै-
र्विना लभ्यते ॥ २ ॥

मनुष्य देहकी प्रशंसा तथा मोक्षमें पुण्यकी हेतुता—पहिले तो मनुष्य शरीर होना ही दुर्लभ है दैवयोगसे मनुष्य शरीर प्राप्त भी हुआ तो पुरुष बनना कठिन है उसमें भी सब कर्म्मोंका अधिकारी ब्राह्मण होना दुर्लभ है । ब्राह्मण होनेपरभी वैदिकधर्मपरायण होना कठिन है । वैदिक धर्म होनेपरभी विद्वान् होना दुर्लभ है, विद्वान्कोभी आत्म अनात्म वस्तुका विवेक अलभ्य है, आत्म अनात्म विवेकसेभी कठिन स्वयं अनुभव करना है, इस अनुभवसेभी मैं ब्रह्म हूँ ऐसी स्थिति होना दुर्घट है ये सब होनेपरभी कोटिजन्मोंके किये हुए पुण्यसमूहोंकी सहायता विना मोक्ष मिलना कठिन है ॥ २ ॥

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम् ।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ॥ ३ ॥

एक तो मनुष्य होना, दूसरे मोक्षकी इच्छा होना, तीसरे सुयोग्य सिद्ध गुरुकी वा भगवान्‌की शरण होना ये तीन वस्तु परम दुर्लभ हैं केवल देवताओंके अनुग्रहसे होती हैं ॥ ३ ॥

लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म दुर्लभं तत्रापि पुंस्त्वं
श्रुतिपारदर्शनम्। यस्त्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात् ॥ ४ ॥

आत्मघातक—पूर्वजन्मके पुण्यपुंजसे परम दुर्लभ मनुष्य जन्म और पुंस्त्व पा वेदान्तशास्त्रका यथार्थ सिद्धान्त जानकर जो मनुष्य अपनी मुक्ति होनेका उपाय नहीं करता केवल पुत्र कलत्र वित्त आदि अनित्य वस्तुओंके संग्रह करता हुआ बुरे विषयोंमें भूला है वह मूढात्मा साक्षात् आत्मघातक है ॥ ४ ॥

इतः कोन्वस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति ।
दुर्लभं मानुषं देहं प्राप्य तत्रापि पौरुषम् ॥ ५ ॥

मनुष्य देहका कर्तव्य—इससे अधिक कौन मूढ होगा, जो दुर्लभ मनुष्य शरीर और उसमेंभी पुरुषा पाकर अपना प्रयोजन सम्पादन करनेमें प्रमाद करता हो ॥ ५ ॥

वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणि
भजन्तु देवताः। आत्मैक्यबोधेन विनापि मुक्तिर्न
सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि ॥ ६ ॥

भलेही शास्त्रोंको पढो पढाओ. यज्ञ करो कराओ देवताओंको पूजो चाहें औरभी अनेकों काम्यकर्म करो इस तरह करनेसे सैकडों ब्रह्माके बीतनेपरभी आत्मज्ञानके विना मुक्ति नहीं होती। किन्तु आत्मज्ञान होनेहीसे मोक्ष होता है ॥ ६ ॥

अमृतत्वस्य (तु) नाशास्ति वित्तेनेत्येव हि श्रुतिः ।
ब्रवीति कर्मणो मुक्तेरहेतुत्वं स्फुटं यतः ॥ ७ ॥

मोक्षका कारण, धन वा धनसाध्य कर्म नहीं है—बृ० ४-५-३ श्रुति सब स्पष्ट कहती हैं कि वित्तसाध्य यज्ञआदि काम्यकर्म करनेसे मोक्षकी आशा नहीं इससे स्पष्ट हुआ कि, काम्यकर्म मोक्षका कारण नहीं है॥७॥

अतो विमुक्त्यै प्रयतेत विद्वान्
संन्यस्तबाह्यार्थसुखस्पृहः सन् ।
संतं महान्तं समुपेत्य देशिकं
तेनोपदिष्टार्थसमाहितात्मा॥ ८ ॥

मुक्तिके उपाय—अतएव बाह्य विषयोंके सुखकी इच्छा त्याग समीचीन महात्मा उपदेष्टा गुरुके शरणमें जाकर उनके उपदेशोंमें मनोयोग करि अपनी मोक्ष होनेके लिये सर्वथा उपाय करना चाहिये ॥ ८ ॥

उद्धरेदात्मनात्मानं मग्नं संसारवारिधौ ।
योगारूढत्वमासाद्य सम्यग्दर्शननिष्ठया ॥ ९ ॥

मोक्ष होनेका उपाय यही है कि मैं ब्रह्म हूं इस ज्ञानमें विश्वास करके गीताके कहे हुए योगरूढपनेको पाकर संसारसमुद्रमें डूबे हुए आत्माका अपने आत्मासेही उद्धार करना मोक्ष होनेका उपाय है ॥ ९ ॥

सन्न्यस्य सर्वकर्माणि भवबन्धविमुक्तये ।
यत्यतां पण्डितैर्धीरैरात्माभ्यास उपस्थितैः ॥१० ॥

संसारके बन्धसे मुक्त होनेके लिये लगेहुए धैर्यवान् पंडितोंको काम्य-कर्मोंको छोडकर आत्मज्ञानके अभ्यासमें प्रयत्न करना चाहिये ॥ १० ॥

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किञ्चित्कर्मकोटिभिः ॥११॥

कर्मोंसे चित्तशुद्धि—मोक्षकामीको केवल चित्तशुद्धि होनेके लियेहीं कर्मोंका विधान है यही उन कर्मोंका फल है आत्मसाक्षात्कार तो केवल ज्ञानहीसे होता है सिवा इसके करोडों कर्मोंसे भी नहीं हो सकता॥ ११॥

सम्यग्विचारतः सिद्धा रज्जुतत्त्वावधारणा।
भ्रान्तोदितमहासर्पभयदुःखविनाशिनी ॥ १२ ॥

पहिले अर्थमें दृष्टान्त—सम्यक् विचारसे जब रज्जुतत्त्वका निश्चय होजाता है इससे भ्रान्तिसे उठे हुए महासर्पसे हुए भयके दुःखका विनाश होजाता है ॥ १२ ॥

अर्थस्य निश्चयो दृष्टो विचारेण हितोक्तितः।
न स्नानेन न दानेन प्राणयामशतेन वा ॥ १३ ॥

हितोपदेश और विचार—ऐसी जगहमें हम पदार्थका निश्चय, विचार और हितकारी उपदेशोंसे होता देखते हैं, रज्जुमें सीपके भ्रमकी निवृत्ति, विचार और हितकारी उपदेशोंसेही होती है। इसी तरह अनात्मवस्तुमें आत्मभ्रमकी तथा ब्रह्ममें हुई जो भेदबुद्धि है उसकी निवृत्तिभी स्नान दान और रातादिनके प्राणायाम करनेसे नहीं होती किन्तु गुरुके समीचीन उपदेशसे और अपने विचारसे होती है ॥१३॥

अधिकारिणमाशास्ते फलसिद्धिर्विशेषतः।उपाया देशकालाद्याः सन्त्यस्मिन् सहकारिणः॥ १४ ॥

अधिकारी मुख्य है—ब्रह्मज्ञानरूप फलकी सिद्धि, अधिकारी पुरुषकी आशा रखती है। देश आदिक उपाय तो इसके सहायक होते हैं॥१४॥

अतो विचारः कर्त्तव्यो जिज्ञासोरात्मवस्तुनः।
समासाद्य दयासिंधुं गुरुं ब्रह्मविदुत्तमम् ॥ १५ ॥

गुरुसे विचार करे—इस कारण जिज्ञासु मनुष्यको दयाके समुद्र ब्रह्मज्ञानी उत्तम गुरुके पास जाकर, आत्मविचार करना चाहिये ॥१५॥

मेधावी पुरुषो विद्वानूहापोहविचक्षणः।
अधिकार्य्यात्मविद्यायामुक्तलक्षणलक्षितः॥ १६ ॥

अधिकारीका लक्षण—आत्मविद्याका अधिकारी वही है जिसकी धारणावाली बुद्धि है । तर्कमें चतुर है । गुरुके उपदेशमें और वेद-वेदान्तमें विश्वास तथा बाह्य विषयोंमें वैराग्ययुक्त और लोभरहित है । अर्थात् विषयाभिलाषी लोभी पुरुष आत्मविद्याके कभी अधिकारी नहीं होते ॥ १६ ॥

विवेकिनो विरक्तस्य शमादिगुणशालिनः ।
मुमुक्षोरेव हि ब्रह्मजिज्ञासायोग्यता मता ॥ १७ ॥

आत्मअनात्मके विचार करनेवाले, विरक्त, शम, दम, उपराति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा इन छः गुणोंसे संयुक्त और मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषकोही ब्रह्म जाननेकी इच्छासे विचार करनेकी योग्यता होती है या ऐसाही पुरुष ब्रह्मकी उपासना करसकता है॥ १७॥

साधनान्यत्र चत्वारि कथितानि मनीषिभिः ।
येषु सत्स्वेव सन्निष्ठा यदभावे न सिध्यति ॥ १८ ॥

मोक्षके चार साधन—बुद्धिमान् पुरुषोंने ब्रह्मजिज्ञासामें चार साधन बताये हैं उन साधनोंके होनेपर ही ब्रह्मनिष्ठ होसकता है उनके विना ब्रह्मजिज्ञासा नहीं होसकती ॥ १८ ॥

आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेकः परिगण्यते ।
इहामुत्र फलभोगविरागस्तदनन्तरम् ॥ १९ ॥

नित्य और अनित्य वस्तुका ज्ञान पहिला हेतु गिना है, इसके पीछे इस लोक और परलोकोंके फलोंके भोगोंसे पूरिपूर्ण वैराग्य होना दूसरा हेतु माना है ॥ १९ ॥

शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम् ।

शम, दम, उपराति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान इन छओंकी भली भांति प्राप्ति होना तीसरा हेतु है तथा मुक्त होनेकी उत्कट इच्छा

चौथा हेतु है । ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यमें भी ये दिखाये गये हैं । चारों हेतुकोंको भिन्न भिन्न करके समझाते हैं ॥

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवंरूपो विनिश्चयः ।
सोऽयं नित्यानित्यवस्तुविवेकः समुदाहृतः ॥ २० ॥

नित्यानित्यवस्तुविवेक—केवल एक ब्रह्ममात्र नित्य है ब्रह्मसें अतिरिक्त अखिल जगत् झूठा है, ऐसे दृढ निश्चयका नाम है ॥ २० ॥

तद्वैराग्यं जिहासा या दर्शनश्रवणादिभिः ।
देहादिब्रह्मपर्य्यन्ते ह्यनित्ये भोगवस्तुनि ॥ २१ ॥

वैराग्य—देहसे लेकर ब्रह्मपर्य्यन्त जितनी भोग्य वस्तु हैं उनके श्रवण दर्शन और भोग आदिकोंकी इच्छा न होनेका नाम है ॥ २१ ॥

विरज्य विषयव्रातादोषदृष्ट्या मुहुर्मुहुः ।
स्वलक्षे नियतावस्था मनसः शम उच्यते ॥ २२ ॥

शम—इन्द्रियोंके विषयोंसे सर्वथा विरक्त होकर सदा आत्मवस्तुमें चित्तके लगानेका नाम है ॥ २२ ॥

विषयेभ्यः परावर्त्य स्थापनं स्वस्वगोलके ।
उभयेषामिन्द्रियाणां स दमः परिकीर्त्तितः ॥ २३ ॥

दम—ज्ञानइन्द्रिय कर्मइन्द्रिय इन दोनों इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्हें रोक कर अपने अपने स्थानपर स्थिर रखनेका नाम है ॥ २३ ॥

वाह्यानालम्बनं वृत्तेरेषोपरतिरुत्तमा ॥ २४ ॥

उपरति--वाह्यविषयोंसे मनोवृत्तिकी निवृत्ति होनेका नाम है । यह सर्वश्रेष्ठ है ॥ २४ ॥

सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम् ।
चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते ॥ २५ ॥

तितिक्षा–दुःखके निवृत्त करनेकी चेष्टा किये विनाही उसे सहलेना एवम् उसके निवारणके लिये चिन्ता तथा पिसनेपर विलाप न करनेका नाम है ॥ २५ ॥

शास्त्रस्य गुरुवाक्यस्य सत्यबुद्ध्यावधारणम् ।
सा श्रद्धा कथिता सद्भिर्यया वस्तूपलभ्यते ॥ २६ ॥

श्रद्धा–शास्त्र और गुरुके वचनको सत्य समझके उनपर भरपूर विश्वास करनेका नाम है ॥ २६ ॥

सर्वदा स्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वदा ।
तत्समाधानमित्युक्तं न तु चित्तस्य लालनम् ॥ २७॥

समाधान–चित्तका लालन छोडकर केवल शुद्धचैतन्य परब्रह्ममें बुद्धिको सदा स्थिर रखनेका नाम है ॥ २७ ॥

अहंकारादिदेहान्तान् बन्धानज्ञानकल्पितान् ।
स्वस्वरूपावबोधेन मोक्तुमिच्छा मुमुक्षुता ॥ २८॥

मुमुक्षुता–अपने आत्मस्वरूपका बोध करके अहंकारसे लेकर देहतक जो अज्ञान कल्पित बन्ध है,उससे मुक्त होनेकी इच्छाका नाम है ॥२८॥

मन्दमध्यमरूपाणि वैराग्येण शमादिना ।
प्रसादेन गुरोः सेयं प्रवृद्धा सूयते फलम् ॥ २९ ॥

मुमुक्षुताके भेद–यही मुमुक्षुता वैराग्य और शम दम आदि छः सम्पात्ति इनकी न्यूनाधिकतासे मन्द, मध्यम और उत्तम होजाती है वही यह गुरुकी कृपासे बढी हुई आत्मस्वरूपप्राप्तिरूप फलको उत्पन्न करती है ॥२९॥

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते ।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः ॥३०॥

शम आदिके सफल होनेके स्थल–जिस पुरुषके वैराग्य और मोक्षकी इच्छा ये दोनों तीव्र हैं उसी पुरुषमें शम दम आदि उपाय सार्थक होकर आत्मज्ञानरूप फलको देते हैं ॥ ३० ॥

एतयोर्मन्दता यत्र विरक्तत्वमुमुक्षयोः।
मरौ सलिलवत्तत्र शमादेर्भानमात्रता॥ ३१॥

इनके निष्फल होनेका स्थल–जिस पुरुषमें वैराग्य और मोक्षकी इच्छा ये दोनों मन्द हैं उसमें शम दम आदि उपाय मरु देशके जल समान देखनेमात्रकेही है वास्तवमें निष्फल होते हैं। जैसे मरुदेशमें वृष्टि होतेही जल सूख जाता है उस जलसे कुछ भी काम नहीं चलता तैसेही वैराग्य विना शम दम आदि उपाय निष्फल होजाते हैं॥ ३१॥

मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते॥ ३२॥

भक्तिकी श्रेष्ठता–मोक्षके कारणोंमें जो सामाग्रियां हैं उनमें भक्ति सबसे श्रेष्ठ है। भक्तिका निर्णय–जीवके निजीरूपके अनुसन्धानको भक्ति कहते हैं। जीवका निजी जो ब्रह्मरूप है उसकाही अविछिन्न श्रवण मनन निदिध्यासन या धारणा ध्यान समाधि हैं उसका नाम भक्ति है यानी जीवको अविद्या परि कल्पित मानकर उसे परमात्मरूपसे निरन्तर याद करनेका नाम भक्ति है॥ ३२॥

स्वात्मतत्त्वानुसन्धानं भक्तिरित्यपरे जगुः॥ ३३॥

भक्तिका दूसरोंका लक्षण–स्व-जीव, उसका आत्मतत्त्व–उसके अन्तर्यामी भगवान्का जो, अनुसन्धान–परम प्रेमके साथ निरन्तर चिन्तन इसको कोई भक्ति कहते हैं, पर यह भक्ति ग्रन्थकर्ताको इष्ट नहीं है॥ ३३॥

उक्तसाधनसम्पन्नस्तत्त्वजिज्ञासुरात्मनः।
उपसीदेद्गुरुं प्राज्ञं यस्माद्बन्धविमोक्षणम्॥ ३४॥

साधन संपन्नका कर्तव्य–पीछे कहे गये चारों साधनोंसे सम्पन्न हुए, आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा करनेवाले अधिकारीको ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् गुरुके शरणमें जाना उचित है जिसकी कि, कृपासे बन्धन छूटजाय॥ ३४॥

श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः।
ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः॥ ३५॥

अहेतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम् ।
तमाराध्य गुरुं भक्त्या प्रह्वप्रश्रयसेवनैः ॥
प्रसन्नं तमनुप्राप्य पृच्छेज्ज्ञातव्यमात्मनः ॥ ३६ ॥

गुरुका लक्षण कहते हैं—वेद वेदान्तके यथार्थ ज्ञाता, पापरहित वीत-राग ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ आत्मपरायण निर्धूम अग्निसदृश शान्त विना-कारण दयाके सिन्धु, शरणागत सत् शिष्योंको बन्धुके समान, ऐसे समीचीन गरुके पास जाकर भक्ति सेवन प्रणाम शुश्रूषा आदि आराधनसे प्रसन्न करनेके वाद, आत्म विद्याको पूछे ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

स्वामिन्नमस्ते नतलोकबन्धो कारुण्यसिन्धो पतितं भवाब्धौ । मामुद्धरात्मीयकटाक्षदृष्ट्या ऋज्व्यातिकारुण्यसुधाभिवृष्ट्या ॥ ३७ ॥

पूछनेकी रीति—ऐसे गुरुके पास जाकर वडे विनीत भावसे बोले कि, हे स्वामिन् ! हे लोकके वंधु ! हे दयाके सिन्धु मैं संसारसमुद्रमें डूबताहूँ अपनी कृपाकटाक्षदृष्टि और दया सुधावृष्टिसे मेरा उद्धार कीजिये॥ ३७॥

दुर्वारसंसारदवाग्नितप्तं दोधूयमानं दुरदृष्टवातैः ॥
भीतं प्रपन्नं परिपाहि मृत्योः शरण्यमन्यद्यदहं न जाने ॥ ३८ ॥

हे दयासिन्धु ! मैं दुर्वार संसाररूपदवाग्निसे जलता हूं ? बुरे पाप पुण्यरूप वायुसे काँपता हूं मुझको मृत्युभयसे वचाइये, आपके विना मेरा दूसरा कोई रक्षक नहीं दीखता ॥ ३८ ॥

शान्ता महान्तो निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोक-हितं चरन्तः । तीर्णाः स्वयं भीमभवार्णवं जनान-हेतुनान्यानपि तारयन्तः ॥ ३९ ॥

शान्त स्वभाव महात्मा लोग वडे भयानक संसारसमुद्रसे स्वयं उत्तीर्ण होकर, विना कारण केवल दया भावसे ही प्रेरित हो संसार-समुद्रमें फसे हुए जीवोंके उद्धार करनेके लिये वसन्तकी तरह लोकका कल्याण करते हुए संसारमें निवास करते हैं ॥ ९३ ॥

अयं स्वभावः स्वत एव यत् परश्रमापनोदप्र-
वणं महात्मनाम्। सुधांशुरेष स्वयमर्ककर्कश-
प्रभाभितप्तामवति क्षितिं किल ॥ ४० ॥

महात्मा लोगोंका यह स्वतःस्वभावही है जो कि, दूसरेका दुःख दूर करनेमें तत्पर होते हैं, जैसे सूर्य्यके प्रचण्ड किरणोंसे तपी हुई पृथ्वीको चन्द्रमा अपने सुधासंयुक्त किरणोंसे सींचकर उसकी रक्षा करता है ४० ॥

ब्रह्मानन्दरसानुभूतिकलितैः पूतैः सुशीतैर्युतैर्यु-
ष्मद्वाक्कलशोज्झितैः श्रुतिसुखैर्वाक्यामृतैः सेचय।
संततं भवतापदावदहनज्वालाभिरेनं प्रभो धन्या-
स्ते भवदीक्षणक्षणगतेः पात्रीकृता स्वीकृता ॥४१॥

हे करुणाकर! यह आपके शरण आया जन्तु संसारके दुःखरूप दावाग्निकी ज्वालाओंसे पीडित होरहा है मुझको ब्रह्मानन्दके रसकी अनु-भूतिसे सने हुए, एवम् आपकी वाणीरूपी कलशसे निकले हुए कानोंको सुख देनेवाले पवित्र शीतल उपयुक्त वाक्यरूपी अमृतोंसे सींचकर शीतल कीजिये। हे प्रभो! वे पुरुष धन्य हैं जो स्वभावसे किये गये दृष्टिपातसे स्वीकार किये जानेपर ब्रह्मविद्याके पात्र वनाये गये हैं॥४१॥

कथं तरेयं भवसिन्धुमेतं का वा गतिर्मे कतमो-
ऽस्त्युपायः। जाने न किंचित्कृपयाव मां प्रभो
संसारदुःखक्षतिमातनुष्व ॥ ४१ ॥

शिष्यके तीन प्रश्न–हे दयासिंधु ! इस संसारकोमें कैसे पारकरूंगा ? मेरी कोन गति होगी ? संसारसमुद्र तरनेका कौन उपाय है ? मैं कुछभी नहीं, जानताहूं हे प्रभो ! मेरे संसारी दुःखोंको नष्ट करिये ॥ ४२ ॥

तथा वदन्तं शरणागतं स्वं संसारदावानलताप-तप्तम् । निरीक्ष्य कारुण्यरसार्द्रदृष्ट्या दद्याद-भीतिं सहसा महत्मा ॥ ४३ ॥

गुरुके उपदेश देनेकी रीति तथा अभयदान–संसारके तापरूपीदावानलसे संतप्त होकर विनीत भावसे इस प्रकार बोलते हुए शरणागत शिष्यको देख कर, महात्मा गुरुको उचित है कि, करुणारसयुक्त प्रेमसे भीगीहुई दृष्टिसे शिष्यको एकदम अभय देदे ॥ ४३ ॥

विद्वान् स तस्मा उपसत्तिमीयुषे मुमुक्षवे साधु यथोक्तकारिणे । प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय तत्त्वोपदेशं कृपयैव कुर्यात् ॥ ४४ ॥

वो ब्रह्मनिष्ठगुरु, शिष्य भावसे समीपमें आये हुए, आज्ञाको अच्छा समझकर पालन करनेवाले जिसका कि, चित्त अच्छी तरह शान्त होगया है जो कि, शमवाला है ऐसे उस मुमुक्षु शिष्यकेलिये कृपा करके तत्त्वोपदेश करे ॥ ४४ ॥

माभैष्ट विद्वंस्तव नास्त्यपायः संसारसिंधोस्तरणे-ऽस्त्युपायः । येनैव याता यतयोऽस्य पारं तमेव मार्गं तव निर्दिशामि ॥ ४५ ॥

हे विद्वन् ! तुम संसारी दुःखोंसे भय मत करो तुम्हारा कभी नाश न होगा । इस संसारसमुद्रसे पार होनेका उपाय है। जिस उपायसे यती लोग इस दुःखसे पार हुए, वही उपाय, मैं तुझे बतलाता हूं ॥ ४५ ॥

अस्त्युपायो महान्कश्चित्संसारभयनाशनः ।
तेनतीर्त्वा भवाम्भोधिं परमानन्दमाप्स्यसि ॥ ४६ ॥

भव बाधाके नाश होनेका उपाय—संसारदुःख नाश होनेका एक परम उपाय है,उसी उपायसे संसारसमुद्रसे पार होकर परमानन्दको प्राप्त होगे॥

वेदान्तार्थविचारेण जायते ज्ञानमुत्तमम् ।
तेनात्यन्तिकसंसारदुःखनाशो भवत्यनु ॥ ४७ ॥

वेदान्तशास्त्रका अर्थ विचार करनेसे उत्तम आत्मज्ञान उत्पन्न होता है इसी ज्ञानसे दुःख, सदाके लिये नष्ट होता है, यही एक दुःख नाश होनेका परम उपाय है ॥ ४७ ॥

श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगान्मुमुक्षोर्मुक्तेर्हेतून्वक्ति साक्षाच्छ्रुतेर्गीः । यो वा एतेष्ववतिष्ठत्यमुष्य मोक्षोऽविद्याकल्पितादेहबन्धात् ॥ ४८ ॥

श्रुतिके कहे हुए मोक्षके चार कारण—मोक्षके विषयमें साक्षात् श्रुति कहती है कि, श्रद्धा भक्ति ज्ञान और योग ये सब मोक्षके कारण हैं जो मनुष्य इन सबका अनुष्ठान करता है वह अज्ञानकल्पित देहबन्धनसे मुक्त होकर मोक्ष पदको पाजाता है ॥ ४८ ॥

अज्ञानयोगात्परमात्मनस्ते ह्यनात्मबन्धस्तत एव संसृतिः । तयोर्विवेकोदितबोधवह्निरज्ञानकार्य्यं प्रदहेत्समूलम् ॥ ४९ ॥

अज्ञान योगसे बन्धन कथन—तुम साक्षात परब्रह्म हो, अज्ञानके संयोग होनेसे आत्मस्वरूपको भूलकर झूठी वस्तुओंपर स्नेह करनेसे बन्धे हो उसीसे संसारी दुःखको भोगते हो, जब आत्म अनात्म वस्तुका विचार करनेसे बोधरूप एक अग्नि उत्पन्न होगा तो वही अग्नि अज्ञानकल्पित संसारका समूल नाश कर देगा 'यहां तीनोंके उत्तर हो गये' ॥४९ ॥

कृपया श्रूयतां स्वामिन् प्रश्नोऽयं क्रियते मया ।
यदुत्तरमहं श्रुत्वा कृतार्थः स्यां भवन्मुखात् ॥ ५० ॥

फिर शिष्यके आठ प्रश्न—शिष्य कहता है कि, हे स्वामिन् ! मैं आपसे यह प्रश्न करता हूँ कृपाकरके इसका उत्तर दीजिये, आपके मुखारविन्दसे इस प्रश्नका उत्तर सुनकर मैं कृतार्थ होजाऊंगा ॥ ५० ॥

को नाम बन्धः कथमेष आगतः कथं प्रतिष्ठास्य
कथं विमोक्षः । कोऽसावनात्मा परमः स्व आत्मा
तयोर्विवेकः कथमेतदुच्यताम् ॥ ५१ ॥

शिष्यका प्रश्न है कि, हे दयासिंधु ! यह बन्धन क्या वस्तु है ? कैसे हुआ, यह स्थिर कैसे है, अपनी परम आत्मा क्या वस्तु है, अनात्म वस्तु क्या है ? इन दोनोंका विवेक कैसे होता है ? दया करके यह मुझसे कहिये ॥ ५१ ॥

धन्योऽसि कृतकृत्योऽसि पावितं ते कुलं त्वया ।
यदविद्याबन्धमुक्त्या ब्रह्मीभवितुमिच्छसि ॥ ५२ ॥

शिष्यकी श्लाघापूर्वक प्रश्नोंका उत्तर—ऐसे विनीतभावसे युक्त शिष्यका ऐसा वचन सुनके आचार्य बोले, कि, तुम धन्य हो कृतकृत्य होगये अर्थात् जो तुमको करना चाहिये सो कर चुके तुमने अपना कुल पवित्र कर लिया, जो तुम अज्ञानबन्धसे मुक्त होकर साक्षात् ब्रह्म होनेकी इच्छा करते हो ॥ ५२ ॥

ऋणमोचनकर्त्तारः पितुः सन्ति सुतादयः ।
बन्धे मोचनकर्त्ता तु स्वस्मादन्यो न कश्चन ॥ ५३ ॥

अपनेसे ही मोक्ष पासकता है—पिताका ऋण तो पुत्र छुडा देता है पर संसार बन्धसेमुक्त करनेवाला अपने विना दूसरा कोई नहीं होता अर्थात् अपनेही उद्योग करनेसे मोक्ष मिलता है ॥ ५३ ॥

॥ ॐ ॥

मस्तकन्यस्तभारादेर्दुःखमन्यैर्निवार्यते ॥
क्षुधादिकृतदुःखं तु विना स्वेन न केनचित् ॥ ५४ ॥

माथेपर रखे हुए भार आदिके दुःखको तो दूसरा आदमी निवारण कर सकता है पर भूख प्यास आदिके दुखको विना अपने आपके कोई नहीं मिटा सकता किन्तु अपनेही भोजनसे दूर होता है उसी तरह आत्मबन्धन अपने ही ज्ञान सम्पादनसे दूर होता है दूसरेसे नहीं होता ॥ ५४ ॥

पथ्यमौषधसेवा च क्रियते येन रोगिणा ।
आरोग्यसिद्धिर्दृष्टास्य नान्यानुष्ठितकर्मणा ॥ ५५ ॥

जो रोगी रोगविमुक्त होनेके लिये अपने आप पथ्य और औषध सेवन करता है वह रोगी अवश्य रोगसे छूट जाता है पर जो दूसरेको पथ्य औषध सेवन करायके अपना रोग दूर करना चाहे तो वो रोगसे कभी दूर नहीं हो सकता ? ॥ ५५ ॥

वस्तुस्वरूपं स्फुटबोधचक्षुषा स्वेनैव वेद्यं न तु पण्डितेन ॥ चन्द्रस्वरूपं निजचक्षुषैव ज्ञातव्यमन्यैरवगम्यते किम् ॥ ५६ ॥

जैसे अपने निर्मल नेत्रसे चन्द्रमाके शीतल स्वरूपका अनुभव होता है दूसरोंके देखनेसे अपनेको क्या ? तैसेही आत्मस्वरूपभी अपने हृदयके प्रबल बोधरूपी चक्षुसे जानना चाहिये दूसरे पंडितोंके जाननेसे अपनेको कोई विशेष लाभ नहीं है ॥ ५६ ॥

अविद्याकामकर्मादिपाशबन्धविमोचितुम् ।
कः शक्नुयाद्विनात्मानं कल्पकोटिशतैरपि ॥ ५७ ॥

ज्ञान विना दूसरेसे मोक्ष नहीं—अविद्या व काम कर्म आदिके रस्सोंके बन्धसे मुक्त करनेको आत्मज्ञानके विना दूसरा कोई करोड जन्मोंमे भी मुक्त करनेको समर्थ नहीं होसकता ॥ ५७ ॥

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्वबोधेन मोक्षः सिद्ध्यति नान्यथा ॥ ५८॥

योग तथा सांख्य शास्त्रका अवलम्बन करनेसे एवं यज्ञ आदि कर्म करनेसे तथा नाना प्रकारकी पदार्थ विद्याओंके अभ्यास करनेसे मोक्ष नहीं होता केवल यह आत्मा ब्रह्म है यह एक है ऐसा ज्ञान होनेसे मोक्ष सिद्ध होता है दूसरी तरह नहीं होता ॥ ५८ ॥

वीणाया रूपसौन्दर्यं तन्त्रीवादनसौष्ठवम् ।
प्रजारञ्जनमात्रं तन्न साम्राज्याय कल्पते ॥ ५९ ॥

निरूपणमात्रकी विद्वत्ता-भुक्तिका साधन है मुक्तिका नहीं है—जैसे वीणाके रूपका सौन्दर्य तारोंके बजानेकी सुघडता तथा स्वर केवल मनुष्योंको प्रसन्न करनेके लिये है, इससे कोई राज्यप्राप्ति नहीं होती, तैसेही यज्ञ आदि कर्म करनेसे मोक्ष नहीं होता ॥ ५९ ॥

वाग्वैखरी शब्दझरी शास्त्रव्याख्यानकौशलम् ।
वैदुष्यं विदुषां तद्वद्भुक्तये न तु मुक्तये ॥ ६० ॥

विद्वानोंकी शब्दकी झडी एवम् शास्त्रके व्याख्यानकी कुशलता विद्वत्तामात्र है यह सब पहिलोंकी तरह भुक्तिके लियेही है मुक्तिका सामान नहीं है ॥ ६० ॥

अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला ।
विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला॥ ६१॥

अध्ययनका फल ब्रह्मज्ञान है—जिन विद्वानोंको आत्मबोध नहीं हुआ उन लोगोंका शास्त्र पढना निष्फल है, ब्रह्म ज्ञान होनेपर भी पढना निष्फल है इससे यह स्पष्ट हुआ कि, पढनेका मुख्य फल ब्रह्मज्ञानहीं है भोगजात नहीं ॥ ६१ ॥

शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम् ।
अतःप्रयत्नाज्ज्ञातव्यं तत्त्वज्ञास्तत्त्वमात्मनः॥ ६२ ॥

शब्दसमूह महावन है यह चित्तमें भ्रम उत्पन्न करनेवाला है क्योंकि, शास्त्रोंमें अनेक प्रकारकी बातें लिखी हैं अतः बुद्धिमानोंको ब्रह्मज्ञानी गुरुके पास जाकर आत्मतत्त्व प्रयत्नके साथ जानना चाहिये ॥ ६२ ॥

अज्ञानसर्पदष्टस्य ब्रह्मज्ञानौषधं विना ।
किमु वेदैश्च शास्त्रैश्च किमु मन्त्रैः किमौषधैः ॥६३॥

अज्ञानरूपी महासर्पसे डसे हुए जीवोंको बचानेके लिये ब्रह्मज्ञानही परम औषध है । इसके विना वेद शास्त्र मन्त्र तथा दूसरी दवाओंसे कुछ नहीं होता ॥ ६३ ॥

न गच्छति विना पानं व्याधिरौषधशब्दतः ।
विनाऽपरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते ॥ ६४ ॥

ब्रह्मशब्दज्ञानसे मोक्ष नहीं—जैसे रोगी पुरुषोंका रोग केवल औषधके नाम सुन लेनेसे दूर नहीं होता किन्तु पीनेसे दूर होता है तैसेही भव-बन्धसे, ब्रह्मका साक्षात् अनुभव किये विना 'ब्रह्माऽस्मि' इतना कहने-मात्रसे मुक्त नहीं हो सकता ॥ ६४ ॥

अकृत्वा दृश्यविलयमज्ञात्वा तत्त्वमात्मनः ।
बाह्यशब्दैः कुतो मुक्तिरुक्तिमात्रफलैर्नृणाम् ॥ ६५ ॥

एक चित् पदार्थकी भावनाद्वारा जगत्की भेद बुद्धिका नाश किये विना एवं विना आत्मतत्त्वके समझे बोलनेमात्रके फलवाले बाह्य शब्दोंसे मोक्ष कहां रखा है ॥ ६५ ॥

अकृत्वा शत्रुसंहारमगत्वाखिलभूश्रियम् । ॐ ॥
राजाहमिति शब्दान्नो राजा भवितुमर्हति ॥ ६६ ॥

दृष्टान्त—जैसे कि सब शत्रुओंके नाश किये विना और अखिल भूमण्डलकी श्रीको पाये विना हम राजा हैं ऐसा कहने मात्रसे कोई राजा नहीं होसकता तैसेही आत्मतत्त्वके विना जाने मैं ब्रह्म हूँ ऐस कहनेसे ब्रह्म नहीं होता ॥ ६६ ॥

आप्तोक्तिं खननं तथोपरि शिलाद्युत्कर्षणं स्वीकृतं
निःक्षेपः समपेक्षते न हि बहिः शब्दैस्तु निर्गच्छति।
तद्वद्ब्रह्मविदोपदेशमननध्यानादिभिर्लभ्यते मायाका-
र्यतिरोहितं स्वममलं तत्त्वं न दुर्युक्तिभिः ॥ ६७ ॥

उक्त अर्थमें हिरण्यनिधिका दृष्टान्त—जो जमीनमें रक्खेहुए द्रव्यको नहीं जानता उसे कोई ज्ञाता पुरुष बतावे कि, इस जगह है पीछें बतानेके अनुसार खोद, उसके नीचेके कंकड पत्थर अलग किये जायँ तो उस जगहका रक्खा हुआ द्रव्य मिलजाता है । विना खोदे केवल बतादेनेसे नहीं मिलता । उसी तरह मायाके प्रपञ्चमें छिपाहुआ आत्माका बोध गुरुके उपदेशके अनुसार साधन किये विना दुष्ट युक्तियोंसे नहीं प्राप्त होता । यह छा० ८-३-२ की श्रुतिका बढा हुआ भाव है ॥ ६७॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन भवबन्धविमुक्तये ।
स्वैरेव यत्नः कर्त्तव्यो रोगादाविव पण्डितैः ॥ ६८ ॥

इस कारण संसार बन्धसे मुक्त होनेके लिये अपनेही आप उपाय करना उचित है क्योंकि, रोगसे मुक्त होनेमें अपनाही किया हुआ पथ्याचरण एवं औषध सेवन हितकारी होता है ॥ ६८ ॥

यस्त्वयाद्य कृतः प्रश्नो वरीयांश्छास्त्रविन्मतः ॥
सूत्रप्रायो निगूढार्थो ज्ञातव्यश्च मुमुक्षुभिः ॥६९॥

प्रश्नप्रशंसा—जो तुमने अभी प्रश्न किया है वह अति उत्तम है सर्व शास्त्रोंसे सम्मत है सूत्रप्राय है अर्थात् थोडे अक्षरोंमें बहुत अर्थ भरा है,यह प्रश्न मोक्षकी इच्छा करनेवालोंके अवश्य जानने योग्य है ॥६९॥

शृणुष्वावहितो विद्वन् यन्मया समुदीर्यते ।
तदेतच्छ्रवणात्सद्यो भवबन्धाद्विमोक्ष्यसे ॥ ७० ॥

हे विद्वन् ! जो मैं कहताहूं उसे अपने मनको स्थिर करके सुन इसके सुनने और विचारनेसे संसारके बन्धसे अवश्य मुक्त होजावोगे ॥ ७० ॥

मोक्षस्य हेतुः प्रथमो निगद्यते वैराग्यमत्यन्त-
मनित्यवस्तुषु । ततः शमश्चापि दमस्तितिक्षा-
न्यासः प्रसक्ताखिलकर्मणां भृशम् ॥ ७१ ॥

मोक्षके कारण--१ अनित्य वस्तुओंसे अत्यन्त वैराग्य २ विषयोंसे इन्द्रियोंका निग्रह ३ दम ४ तितिक्षा ५ सब काम्य कर्मोंका त्याग ॥७१॥

ततः श्रुतिस्तन्मननं सतत्त्वध्यानं चिरं नित्य-
निरन्तरं मुनेः । ततो विकल्पं परमेत्य विद्वानि-
हैव निर्वाणसुखं समृच्छति ॥ ७२ ॥

इसके पीछे ६ गुरुमुखसे ब्रह्मविद्याका श्रवण ७ सुने हुएका मनमें मनन ८ इसके बाद उस रूपका निरंतर निदिध्यासन ये सब मोक्षके साधन हैं । इनसे निर्विकल्प परब्रह्मको पायके मोक्षके सुखको प्राप्त करता है । शम दमादिके लक्षण पीछे कह चुके हैं ॥ ७२ ॥

यद्बोद्धव्यं तवेदानीमात्मानात्मविवेचनम् ।
तदुच्यते मया सम्यक्छ्रुत्वात्मन्यवधारय ॥ ७३ ॥

आत्म अनात्म विचार—जो आपको अवश्य जाननेका है उस आत्म अनात्म वस्तुके विवेकको मैं अब कहता हूँ इसे अच्छी तरह सुनकर तुम आत्मामें निश्चय करो ॥ ७३ ॥

मज्जास्थिमेदःपलरक्तचर्मत्वगाह्वयैर्धातुभिरेभिर-
न्वितम् । पादोरुवक्षोभुजपृष्ठमस्तकैरङ्गैरुपाङ्गै-
रुपयुक्तमेतत् ॥ ७४ ॥

स्थूल देह--मज्जा अस्थि मेद मांस रुधिर चर्म त्वचा इन सात धातुओंसे संयुक्त और पैर जंघा भुजा वक्षस्थल पृष्ठ मस्तक इन अंगों और उपांगोंसे संयुक्त ॥ ७४ ॥

सथुल शरीर वि-च-

अहंममेति प्रथितं शरीरं मोहास्पदं स्थूलमितीर्यते बुधैः। नभो नभस्वद्दहनाम्बुभूमयः सूक्ष्माणि भूतानि भवन्ति तानि ॥ ७५ ॥ परस्परांशैर्मिलितानि भूत्वा स्थूलानि च स्थूलशरीरहेतवः। मात्रास्तदीया विषया भवन्ति शब्दादयः पञ्च सुखाय भोक्तुः ॥ ७६ ॥

मैं मेरा करके प्रसिद्ध, मोहका स्थान जो यह शरीर है इसे विज्ञ पुरुष स्थूल कहते हैं। इसके कारण—आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि ये भूत होते हैं। ये सूक्ष्म भूत आपसमें आपसके अंशोंसे मिलकर स्थूल होते हैं। येही इस स्थूल शरीरके कारण होते हैं। विषय—इन भूतोंकी मात्रा जो शब्द रूप रस गन्ध और स्पर्श हैं ये भोक्ताके सुखके लिये विषय होते हैं। यानी तम प्रधान प्रकृतिसे ईश्वरकी आज्ञासे पंच सूक्ष्म भूत हुए। फिर ये पंचीकरणकी प्रक्रियासे परस्पर मिलकर स्थूल होगये। ये स्थूल ही इस स्थूल शरीरके कारण हैं। इस सबके सत्त्वांशसे क्रमसे ज्ञानेन्द्रिय तथा सबके मिश्र सत्त्वांशसे अन्तःकरण बना जिस तत्त्वके सत्त्वांशसे जो इन्द्रिय बनी वो उसीके तन्मात्र विषयका अनुभव करनेकी शक्ति रखती हैं जैसे पृथिवी तत्त्वके सत्त्वांशसे बना घ्राण, इन्द्रिय पृथिवीके तन्मात्र गन्धके ग्रहणकी ही शक्ति रखता है ये इन्द्रियाँ विषयोंका ग्रहणकरके कर्ता भोक्ताको सुख दुःख पहुंचाया करती हैं। यह पदार्थ वेदान्तपंचदशीके तत्त्व विवेक तथा गीताके 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' से भली भांति परिस्फुट होता है ॥ ७५॥ ७६ ॥

य एषु मूढा विषयेषु बद्धा रागेण पाशेन सुदुर्मदेन। आयान्ति निर्यान्त्यध ऊर्ध्वमुच्चैः स्वकर्मदूतेन जवेन नीताः ॥ ७७ ॥

विषयोंको बन्धका कारण कहना—जो मूढ जन शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इन पांचों विषयोंकी प्रबल प्रीति रूप पाशमें फँसि जाते हैं वे

मनुष्य अपने कर्मरूप दूतके वेगसे घसीटे हुए कभी इस लोकमें और कभी परलोकमें आते जाते हैं ॥ ७७ ॥

शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च पञ्चत्वमापुः स्वगुणेन बद्धाः । कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीनभृङ्गा नराः पञ्चभिरञ्चितः किम् ॥ ७८ ॥

पूर्वविषयमें दृष्टान्त—शब्दमें स्नेह करनेसे मृग, स्पर्शमें हाथी, रूपमें पतंग, रसमें मछली और गन्धमें स्नेह करनेसे भौंरा मारा जाता है जो मनुष्य इन पांचों विषयोंके स्नेहमें सदा फँसा रहता है वह क्यों न मारा जायगा ॥ ७८ ॥

दोषेण तीव्रो विषयः कृष्णसर्पविषादपि । विषं निहन्ति भोक्तारं द्रष्टारं चक्षुषाप्ययम् ॥ ७९ ॥

विषयोंको विषकथन—काले सर्पके विषदोषसे या विषके दोषसेभी अधिक शब्द स्पर्श आदि विषयोंका दोष, तीव्र है क्योंकि, विष खानेसे और सर्प काटनेसे मनुष्योंको मार देता है किन्तु शब्दआदि विषय केवल देखने सुननेसे ही खतम करदेते हैं ॥ ७९ ॥

विषयाशामहापाशाद्यो विमुक्तः सुदुस्त्यजात् । स एव कल्पते मुक्त्यै नान्यः षट्शास्त्रवेद्यपि ॥ ८० ॥

विषयत्यागीही मोक्षका भागी है—विषयोंकी आशारूप दुस्त्यज महापाशसे जो मनुष्य बचे हैं वेही मोक्षके भागी होते हैं । विषयोंके आशापाशमें फँसाहुआ षट्शास्त्रीभी क्यों न हो वो भी मोक्षका भागी नहीं होता ॥ ८० ॥

आपातवैराग्यवतो मुमुक्षून्भवाब्धिपारं प्रतियातुमुद्यतान् । आशाग्रहो मज्जयतेऽन्तराले निगृह्य कण्ठे विनिवर्त्य वेगात् ॥ ८१ ॥

अपक्क वैराग्यवालेकी दशा—थोडीसी बातमें जिनका वैराग्य गिरजाय ऐसे जो भवसागरको पार करनेके लिये उद्यत हुए मुमुक्षु हैं उन्हें विषयोंका आशापाश फुर्तीके साथ कंठ पकडकर उलटा संसारके बीचमें ही डुबा देता है ॥ ८१ ॥

विषयाख्यग्रहो येन सुविरक्त्यसिना हृतः ।
स गच्छति भवाम्भोधेः पारं प्रत्यूहवर्जितः ॥ ८२ ॥

जिसने विषयरूपी मगरको, परवैराग्यरूपी पैनी तलवारसे मार दिया वो संसार सागरके निर्विघ्न पार होजाता है ॥ ८२ ॥

विषमविषयमार्गैर्गच्छतो नष्टबुद्धेः प्रतिपदमभि-
यातो मृत्युरप्येष विद्धि । हितसुजनगुरूक्त्या
गच्छतः स्वस्य युक्त्या प्रभवति फलसिद्धिः
सत्यमित्येव विद्धि ॥ ८३ ॥

विषय रसका त्याग तथा सन्तोषादिका उपार्जन भी मोक्षमें आदेय है—जो दुर्बुद्धि मनुष्य कुटिल विषम विषयरूपी मार्गसे अर्थात् विषयभोग करता हुआ, संसारसमुद्रसे पार होना चाहता है उसको पदपदमें परम दुःख भोगना पडता है यानी जितना वो जारहा है वो पदपदपर मौतकी ओरही बढा जारहा है यह जान, जो मनुष्य हितकारी श्रेष्ठ गुरुके उपदेशसे तथा अपनी युक्तिसे विषयरस त्यागकर पार होना चाहता है उसको निश्चयही मोक्षरूप फल सिद्ध होता है ॥ ८३ ॥

मोक्षस्य कांक्षा यदि वै तवास्ति त्यजातिदूरा-
द्विषयान्विषं यथा । पीयूषवत्तोषदयाक्षमार्जवप्र-
शान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात् ॥ ८४ ॥

यदि तुमको मोक्षकी इच्छा है तो विषयोंका विषकी तरह दूरसेंही त्याग करो और सन्तोष, दया, क्षमा, कोमलता, शान्ति, इन्द्रियोंका निग्रह इन सबोंका अमृतके समान आदरसे सेवन करो ॥ ८४ ॥

अनुक्षणं यत्परिहृत्य कृत्यमनाद्यविद्याकृतबन्ध-
मोक्षणम्। देहः परार्थोऽयममुष्य पोषणे यः सज्जते
स स्वमनेन हन्ति ॥ ८५ ॥

प्रतिक्षणका कृत्य—यही है कि, अनादि अविद्याके रचे हुए बन्ध मोक्ष हैं जैसा कि, भा. में कहा है कि, ' अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ ' तथा देह आत्माके लिये है यह विचार शरीरका मोह त्याज्य है इस शरीरके पोषणमें विलकुलही अनुरक्त होजाता है वो, इस शरीरसे अपने आत्माका घात करता है ॥ ८५ ॥

शरीरपोषणार्थी सन् य आत्मानं दिदृक्षति ।
ग्राहं दारुधिया धृत्वा नदीं तर्तुं स गच्छति ॥ ८६ ॥

जो मनुष्य अनित्य शरीरके पोषणका मतलब रखता हुआ आत्मसाक्षात्कार करना चाहता है, वह काष्ठ बुद्धिसे ग्राहको पकडकर नदीं पार होनेकी इच्छा करता है ॥ ८६ ॥

मोह एव महामृत्युर्मुमुक्षोर्वपुरादिषु ।
मोहो विनिर्जितो येन स मुक्तिपदमर्हति ॥ ८७ ॥

मोहको महामृत्यु कथन—मोक्षार्थी पुरुषका अपने शरीर आदिमें मोह होना ही महामृत्यु है, जिसने मोहको जीतलिया है वही पुरुष मोक्षपदको पासकता है ॥ ८७ ॥

मोहं जहि महामृत्युं देहदारसुतादिषु ।
यं जित्वा मुनयो यान्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥८८॥

अपने देह तथा पुत्र कलत्र आदिमें जो मोह है वही महामृत्यु है उसे छोड दे क्योंकि, इसे जीत करही मुनिलोग साक्षात् विष्णुपदको प्राप्त होते हैं " तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः " ॥ ८८ ॥

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंकुलम् ।
पूर्णं मूत्रपुरीषाभ्यां स्थूलं निन्द्यमिदं वपुः ॥ ८९ ॥

त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मज्जा, अस्थि इन सबसे संयुक्त एवं मल मूत्रसे भरा हुआ यह स्थूल शरीर सर्वथा निन्द्य है ॥ ८९ ॥

पञ्चीकृतेभ्यो भूतेभ्यः स्थूलेभ्यः पूर्वकर्मणा ।
समुत्पन्नमिदं स्थूलं भोगायतनमात्मनः ॥
अवस्थाजागरस्तस्य स्थूलार्थानुभवो यतः ॥९०॥

भोगका स्थान—परस्पर मिले हुए आकाश आदि पञ्चस्थूलभूतोंसे आत्माका भोगस्थान यह स्थूलशरीर उत्पन्न होता है।इस स्थूलशरीरकी स्थूल वस्तुओंकी अनुभव करानेवाली 'जाग्रत् अवस्था' होती है ॥९०॥

बाह्येन्द्रियैः स्थूलपदार्थसेवां स्रक्चन्दनस्त्र्यादि-
विचित्ररूपाम् । करोति जीवः स्वयमेतदात्मना
कस्मात्प्रशस्तिर्वपुषोऽस्य जागरे ॥ ९१ ॥

स्थूल शरीरके उपयोगकी अवस्था—यह जीव स्थूल शरीरके साथ तादात्म्य भाव करके श्रोत्र आदि बाह्य इन्द्रियोंसे स्रक् चन्दन मनोज्ञ स्त्री आदि अनेक तरहके स्थूल पदार्थोंका सेवन करता है इस वास्ते इस स्थूल शरीरकी जाग्रत् अवस्था प्रसिद्ध है ॥ ९१ ॥

सर्वोऽपि बाह्यसंसारः पुरुषस्य यदाश्रयः ।
विद्धि देहमिमं स्थूलं गृहवद्गृहमेधिनः ॥ ९२ ॥

जैसे गृहस्थका सारा व्यवहार घरके पीछे होता है उसी तरह इस स्थूल देहको जीवके सारे व्यवहारोंका घर समझ; क्योंकि, पुरुषका सारा बाह्य संसार इस स्थूल शरीरके ही पीछे है बिना इसके नहीं हो सकता यही बात अगले श्लोकसे भी दिखाते हैं ॥ ९२ ॥

स्थूलस्य संभवजरामरणानि धर्माः स्थौल्यादयो
बहुविधाः शिशुताद्यवस्थाः । वर्णाश्रमादिनियमा
बहुधामयाः स्युः पूजावमानबहुमानमुखा विशेषाः ९३

जन्म बुढापा और मरण तथा मोटा और दुर्बल होना ये सब स्थूल शरीरके धर्म हैं, बाल युवा और वृद्ध आदि अवस्थाएंभी इसीकी होती हैं वर्णाश्रम आदि नियम और प्रतिष्ठा अनादर आदि अनेक प्रकारकी आधि व्याधि भी इसीमें होती हैं ॥ ९३ ॥

बुद्धीन्द्रियाणि श्रवणं त्वगक्षि घ्राणं च जिह्वा-
विषयावबोधनात्। वाक्पाणिपादा गुदमप्युपस्थः
कर्मेन्द्रियाणि प्रवणेन कर्मसु ॥ ९४ ॥

ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंके लक्षण-श्रोत्र, त्वग्, अक्षि, जिह्वा, घ्राण, ये पांच इन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पांचों विषयोंके अवबोध करानेवाली होनेके कारण ज्ञानेन्द्रिय कहाती हैं।वाक्, पाणि, पाद पायु, उपस्थ इन पांचोंको, वचन, आहरण, गमन, विसर्ग, आनन्द आदि कर्मोंमें प्रवृत्त होनेके कारण कर्मेन्द्रिय कहते हैं ॥ ९४ ॥

निगद्यतेऽन्तःकरणं मनोधीरहंकृतिश्चित्तमिति
स्ववृत्तिभिःमनस्तु संकल्पविकल्पनादिभिर्बुद्धिः
पदार्थाध्यवसायधर्मतः ॥९५॥ अत्राभिमानादह-
मित्यहंकृतिः स्वार्थानुसन्धानगुणेनचित्तम् ॥ ९६ ॥

चारों तरहके अन्तःकरणके लक्षण--अन्तःकरणके वृत्तिभेदसे मन बुद्धि, अहंकार, चित्त ये चार भेद होते हैं । संकल्प विकल्प करना मनकी वृत्ति है । पदार्थोंका निश्चय करना बुद्धिका धर्म है । अभिमान होना यह अहंकारका धर्म है, विषयोंपर अनुधावन करना यानी जाना चित्तका धर्म है ॥ ९५ ॥ ९६ ॥

प्राणापानव्यानोदानसमाना भवत्यसौ प्राणः ।
स्वयमेव वृत्तिभेदाद्विकृतिभेदात्सुवर्णसलिलवत्॥९७॥

मुख्य प्राण तथा उसके भेद–प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, इन पांच भेदोंसे पांच प्रकारका होता है । यद्यपि प्राण रूप एकही है

अमठ प्रतीचार-

तथापि हृदय, गुदा, नाभि, कण्ठ, सर्वदेह इन स्थानोंपर रहने रूप वृत्तिभेद होनेसे पांच भेद होजाते हैं, जैसे कि, विकारके भेदसे सुवर्ण कटक कुंडल आदि अनेक संज्ञाओंको प्राप्त होता है जैसे कि, एकही पानी भिन्न भिन्न स्थलोंके संयोगसे कडुआ मीठा होजाता है ॥ ९७॥

ॐ

वागादि पञ्च श्रवणादि पञ्च प्राणादि पञ्चाभ्रमुखानि पञ्च। बुद्ध्याद्यविद्यापि च कामकर्मणी पुर्य्यष्टकं सूक्ष्मशरीरमाहुः ॥ ९८ ॥

सूक्ष्म या लिंग तथा कारण शरीर--१ वचन आदि पांच कर्मेंद्रिय, २ श्रवण आदि पांच ज्ञान इन्द्रिय, ३ प्राण अपान आदि पांच वायु, ४ आकाश आदि पांच सूक्ष्म तत्त्व, ५ बुद्धि आदि चार अंतःकरण, ६ अविद्या, ७ काम और ८ वां कर्म ये आठों मिलकर पुर्य्यष्टक कहलाते हैं। इन सबका मिलकर सूक्ष्म शरीर होता है। इसीको सायणाचार्य्यने तत्त्वविवेकके २३ वें तथा १७ वें श्लोकमें बताया है ॥ ९८ ॥

इदं शरीरं शृणु सूक्ष्मसंज्ञितं लिङ्गं त्वपञ्चीकृतभूतसंप्लवम्। सवासनं कर्मफलानुभावकं स्वाज्ञानतोऽनादिरुपाधिरात्मनः ॥ ९९ ॥

विशेष निरूपण--हे शिष्य ! इस सूक्ष्म शरीरको लिंगशरीरभी कहते हैं। पंचीकृतभूत तो स्थूल शरीरमें आगये हैं, सूक्ष्म या लिङ्गदेहमें जिनका पंचीकरण नहीं हुआ है उनका ग्रहण कहा है यानी अपंचीकृत भूतोंका समूह लिंगमें है। यह वासनाओंको लियेहुए है, कर्म फलका अनुभव करानेवाला है। अपने अज्ञानसे जो आत्माकी अनादि उपाधि (काम कर्मादि दूपित अविद्या) लगीहुई है यही 'कारण शरीर' है ॥ ९९ ॥

स्वप्नो भवत्यस्य विभक्त्यवस्था स्वमात्रशेषेण

विभाति यत्र। स्वप्ने तु बुद्धिः स्वयमेव जाग्रत्का-
लीननानाविधवासनाभिः ॥ १०० ॥

स्थूलसे सूक्ष्मका विभाग—स्वप्नसे जाना जा सकता है जिसमें स्थूलसे
भिन्न सूक्ष्म शरीरका भान होता है क्योंकि, स्वप्नमें स्थूल शरीरके सोते-
पडेरहनेपरभी बुद्धि जाग्रत् समयकी अनेक तरहकी वासनाओंसे ॥१००॥

कर्त्रादिभावं प्रतिपद्य राजते यत्र स्वयं भाति ह्ययं
परात्मा । धीमात्रकोपादिरशेषसाक्षी न लिप्यते
तत्कृतकर्मलेशैः ॥ १०१ ॥

कर्ता भोक्तापनेको स्वयंही प्राप्त होकर शोभाको पाती है जिसमें
परात्मा स्वप्नका साक्षी होकर आप स्फुरित होता है बुद्धियुक्त होनेपर
भी सबका साक्षी उपाधि रहित सच्चिदानन्द बुद्धिके किये कर्म लेशसे
लिप्त नहीं होता इस कारण 'असंगोऽयं पुरुषः' ऐसा कहते हैं॥१०१॥

सर्वव्यापृतिकरणं लिङ्गमिदं स्याच्चिदात्मनः
पुंसः । वास्यादिकमिव तक्ष्णस्तेनैवात्मा भव-
त्यसंगोऽयम् ॥ १०२ ॥

जैसे वसूला आदि बढईके करण हैं उनसेही वो काटा फासी करता है
उसी तरह चिदात्मा पुरुषकी सब क्रियाओंका करण है यही लिंगदेह
है। उसीसे यह सब कुछ हो रहा है आत्मा असंग है वास्तवमें वो
कर्ता भोक्ता कुछभी नहीं है ॥ १०२ ॥

अन्धत्वमन्दत्वपटुत्वधर्माः सौगुण्यवैगुण्यवशाद्धि
चक्षुषः । बाधिर्यमूकत्वमुखास्तथैव श्रोत्रादि-
धर्मा न तु वेत्तुरात्मनः ॥ १०३ ॥

इन्द्रियोंके दोषगुण आत्माके नहीं—नेत्रोंके अच्छे बुरे होनेके कारणही

अन्ध होना थोडा देखना और खूब देखना होता है इस कारण ये दृष्टिके धर्म कहे जाते है इसी तरह बधिर और मूक होना ये तब श्रोत्रादि इन्द्रियोंके धर्म हैं सर्व साक्षी सर्वज्ञ आत्माके धर्म नहीं हैं ॥ १०३ ॥

" यस्मादसंगस्तत एव कर्मभिर्न लिप्यते किञ्चि-
दुपाधिना कृतैः ॥ "

जिससे कि, आत्मा संगरहित है अत एव उपाधिकृत कर्मोंसे कुछभी लिप्त नहीं होता ॥

उच्छ्वासनिःश्वासविजृम्भणक्षुत् प्रस्पन्दनाद्युत्क्र-
मणादिकाः क्रियाः । प्राणादिकर्म्माणि वदन्ति
तज्ज्ञाः प्राणस्य धर्मावशनापिपासे ॥ १०४ ॥

प्राणके धर्म--ऊपरको श्वास लेना, नीचेको श्वास होना, जँभाई आना, क्षुधा, होना सीधा चलना, टेढा चलना, भूख प्यास लगना, ये सब धर्म प्राण अपान आदिके हैं आत्माके नहीं है। आत्मा इन सब धर्मोंसे रहित है ॥ १०४ ॥

अन्तः करणमेतेषु चक्षुरादिषु वर्ष्मणि ।
अहमित्यभिमानेन तिष्ठत्याभासतेऽञ्जसा ॥ १०५ ॥

अन्तःकरणके धर्म--मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रूप अन्तःकरण इन चक्षु आदिक इन्द्रियोंमें और शरीरमें ' अहम् ' मैं इस अभिमानसे रहता है तथा आत्म तत्त्वसे शीघ्रही प्रकाशित होता है ॥ १०५ ॥

विषयाणामानुकूल्ये सुखी दुःखी विपर्यये ।
सुखं दुःखं च तद्धर्मः सदानन्दस्य नात्मनः ॥ १०६ ॥

यह इच्छानुकूल विषय प्राप्त होनेसे सुखी होता है न मिलनेसे दुःखी होता है इसलिये सुख दुःख ये दोनों अन्तःकरणके धर्म हैं । सदा आनन्दस्वरूप आत्माके नहीं हैं ॥ १०६ ॥

अहंकारः स विज्ञेयः कर्त्ता भोक्ताभिमान्यथ ।
सत्त्वादिगुणयोगेन चावस्थात्रयमश्नुते ॥ १०७ ॥

कर्ता और भोक्तापनेका अभिमानी—जो है उसे अहंकार जानना, यही अहंकार सत्त्वगुण तमोगुण और रजोगुणके योगसे क्रमशः जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंको भोगता है ॥ १०७ ॥

आत्मार्थत्वेन हि प्रेयान् विषयो न स्वतः प्रियः ।
स्वत एव हि सर्व्वेषामात्मा प्रियतमो यतः ॥ १०८॥

आत्माही परमप्रिय है--विषयमें आत्मीय बुद्धि होनेसे विषय प्रिय होता है स्वतः विषयके लिये विषय प्रिय नहीं है किन्तु विना कारण सभीका स्वतः परमप्रिय केवल आत्माही है दूसरा नहीं है "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति" ॥ १०८ ॥

तत आत्मा सदानन्दो नास्य दुःखं कदाचन ।
यः सुषुप्तौ निर्विषय आत्मानन्दोऽनुभूयते ।
श्रुतिः "प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानं च जाग्रति"॥१०९॥

अखण्ड आनन्द--इस कारण आत्मा सदा आनन्दस्वरूप है आत्माको कभी दुःख नहीं होता । सुषुप्तिकालमें विना विषयके आत्माके सुख विशेषका अनुभव होता है वही आत्मानन्द है । ऐसेही मां० ९ छा०श्री श्रुति तथा प्रत्यक्ष ऐतिह्य इतिहास और अनुमान आदिसे प्रतीत होता है ॥ १०९ ॥

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा । कार्य्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ॥ ११० ॥

मायाका निरूपण--ईश्वरकी जो अव्यक्तनामकी शक्ति है उसीको माया कहतेहैं यह अनादि है इसीको अविद्या कहते हैं । यह त्रिगुणा-

त्मिका यानी रज तम और सत्त्वमय है। मायाका अनुमान कार्य्यसे होता है। इसीसे सम्पूर्ण दृश्य जगत् उत्पन्न हुआ है॥ ११०॥

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्ना-
ऽप्युभयात्मिका नो। सांगाऽप्यनंगा ह्युभयात्मिका
नो महाद्भुता निर्वचनीयरूपा ॥ १११॥

मायाका स्वरूप—इस मायाको सत्यभी नहीं कहसकते क्योंकि, अद्वैत प्रतिपादन करनेवाली बहुतसी श्रुतियां ब्रह्म व्यतिरिक्त पदार्थका विरोध करती हैं तथा ज्ञान होनेपर इसका बाध हो जाता है मिथ्याभी नहीं कह सकते क्योंकि इस मायाका कार्य्य जगत् प्रत्यक्ष दीखता है न वो सद् और असद्रूपही है क्योंकि, ऐसा पदार्थ हो नहीं सकता जो हो भी और नभी हो दोनों हो अतएव सांग और निरंग दोनों भी नहीं कहसकते इसी कारण यह अद्भुत और अनिर्वचनीय रूप माया है॥ १११॥

शुद्धाऽद्वयब्रह्मविबोधनाश्या सर्पभ्रमो रज्जुविवे-
कतो यथा। रजस्तमः सत्त्वमिति प्रसिद्धा गुणा-
स्तदीयाः प्रथितैः स्वकार्य्यैः॥ ११२॥

मायाका नाश—शुद्ध अद्वितीय ब्रह्मका बोध होनेपर इस मायाका नाश होता है जैसे कि रज्जुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान होनेपर सर्पका भ्रम नष्ट हो जाता है। मायाके गुण—सत्त्व रज तम ये तीन हैं ये अपने २ कार्य्यसे प्रसिद्ध हैं जैसे जिस समय प्रसन्नचित्त होजावे और भूली हुई बातोंका स्मरण होनेलगे तो समझना कि, सत्त्वगुणका उदय है। जिस समय चित्त चंचल होजावे और किसी वस्तुपर स्थिर न रहे तो समझना कि, इस समयपर रजोगुणका उदय है। आलस्य निद्रादि दोषोंसे बातोंके भूल जानेसे तमोगुणका उदय जानना। सांख्यतत्त्वकौमुदीमें ये अच्छी तरह दिखाये हैं॥ ११२॥

विक्षेपशक्ती रजसः क्रियात्मिका यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी। रागादयोऽस्याः प्रभवन्ति नित्यं दुःखादयो ये मनसो विकाराः ॥ ११३ ॥

सब गुणोंको अपने २ कार्य्यमें लगानेका कार्य्य रजोगुणका है। इसीसे सब प्रवृत्तियाँ होती हैं। इसीसे सांसारिक प्रवृत्ति हो रही है। मायाकी विक्षेप शक्ति—यह रजोगुण है यही सब क्रियाओंमें मनुष्योंको प्रवृत्त कराती है और इसके कार्य राग दुख आदि मनके विकार हैं ये सब इसीसे पैदा होते हैं ॥ ११३ ॥

कामः क्रोधो लोभदम्भाद्यसूयाऽहंकारेर्ष्यामत्सराद्यास्तु घोराः। धर्मा एते राजसा पुंप्रवृत्तिर्यस्मादेषा तद्रजो बन्धहेतुः ॥ ११४ ॥

रजको बन्धकारण कहना—काम, क्रोध, लोभ, दम्भ ईर्ष्या. असूया, अहंकार ये सब रजोगुणके घोर धर्म हैं। जिनके वश होनेसे पुरुषकी प्रवृत्ति विषयोंमें होती है इसलिये रजोगुण बन्धका कारण है ॥११४॥

एषा वृत्तिर्नाम तमोगुणस्य शक्तिर्यया वस्त्ववभासतेऽन्यथा। सैषा निदानं पुरुषस्य संसृतेर्विक्षेपशक्तिः प्रसरस्य हेतुः ॥ ११५ ॥

आवरणशक्ति—मायाकी दूसरी शक्तिका नाम है। जिससे वस्तुओंका यथार्थरूप नहीं दीख पडता उसी वस्तुमें दूसरे वस्तुका भान होता है इसे तम कहते हैं पुरुषके संसारी होनेमें यही कारण है। विक्षेपशक्ति, इस आवरणशक्तिकी फैलानेवाली है ॥ ११५ ॥

प्रज्ञावानपि पंडितोऽपि चतुरोऽप्यत्यन्तसूक्ष्मात्मदृग्व्यालीढस्तमसा न वेत्ति बहुधा संबोधितोऽपि स्फुटम्। भ्रान्त्यारोपितमेव साधु कलयत्याल-

म्बते तद्गुणान्हन्तासौ प्रबला दुरन्ततमसः शक्ति-
र्महत्यावृतिः ॥ ११६ ॥

आवरणशक्तिका कार्य—बडे खेदकी बात है कि तमसे घिरा रहनेसे पढे हुए बुद्धिमान् पंडित बहुत चतुर, सूक्ष्मदृष्टि पुरुषकोभी भलीभांति कोई वस्तु समझाई जाय तोभी उस वस्तुको वह न समझकर भ्रांतिसे उसी वस्तुमें दूसरे वस्तुके स्वरूपका आरोप करता है और उसी दूसरी वस्तुका दृढ अवलम्बन करता है। यह तमोगुणी आवरणशक्तिकी महिमा है यह धन्य धन्य है ॥ ११६ ॥

अभावना वा विपरीतभावना संभावना विप्रति-
पत्तिरस्याः । संसर्गयुक्तं न विमुञ्चति ध्रुवं विक्षेप-
शक्तिः क्षपयत्यजस्रम् ॥ ११७ ॥

उसे वह न मानना, उलटा समझना, कुछ समझना, कुछ न समझना ये विक्षेप शक्तिके कारण ही होते हैं इस कारण ये सबके बोधक हैं। यह जिसके साथ लगी हुई है उसको फिर कभी नहीं छोडती। किन्तु रात दिन उसे अपनी प्रवृत्तियोंमें लगाये ही रहतीहै ॥ ११७ ॥

अज्ञानमालस्यजडत्वनिद्राप्रमादमूढत्वमुखास्त-
मोगुणाः । एतैः प्रयुक्तो नहि वेत्ति किञ्चिन्निद्रा-
लुवत्स्तम्भवदेव तिष्ठति ॥ ११८ ॥

तमोगुणके धर्म—अज्ञान आलस्य जडता निद्रा प्रमाद और मूढता आदि ये सब हैं। इनमें संयुक्त होनेसे मनुष्यको किसी वस्तुका ज्ञान नहीं होता। केवल निद्रालुके सदृश जडके समान स्थिर रहता है ॥ ११८ ॥

सत्त्वं विशुद्धं जलवत्तथापि ताभ्यां मिलित्वा शर-
णाय कल्पते।यत्रात्मबिम्बः प्रतिबिम्बितः सन्प्र-
काशयत्यर्क इवाखिलं जडम् ॥ ११९ ॥

सत्त्वगुण जलके समान स्वच्छ है, तौभी रजोगुण तमोगुणमें मिलकर इन सबको शरण देनेके लिये समर्थ होता है. क्योंकि, इसमें आत्म-बिम्ब प्रतिबिम्बित होकर सूर्य समान, सम्पूर्ण जडसमूहको प्रकाशित करता है ॥ ११९ ॥

मिश्रस्य सत्त्वस्य भवन्ति धर्माः स्वामानिताद्या नियमा यमाद्याः। श्रद्धा च भक्तिश्च मुमुक्षुता च दैवी च सम्पत्तिरसन्निवृत्तिः ॥ १२० ॥

मिश्रसत्त्वके धर्म–रजतमसे मिलेहुसे सत्त्वगुणके मान, नियम, यम, श्रद्धा, भक्ति और मोक्षकी इच्छा आदि धर्म हैं। सत्त्वगुणका उदय होनेसे असन्मार्गसे निवृत्ति और दैवी क्रियामें प्रवृत्ति होती है॥१२०॥

विशुद्धसत्त्वस्य गुणाः प्रसादः स्वात्मानुभूतिः परमा प्रशान्तिः। तृप्तिः प्रहर्षः परमात्मनिष्ठा यया सदानन्दरसं समृच्छति ॥ १२१ ॥

शुद्ध सत्त्वके गुण–प्रसन्नता, आत्मस्वरूपका अनुभव होना, परम शान्ति होना,सदा तृप्त रहना, आनन्द, परमात्मामें निष्ठा होना ये सब रज और तमोगुणसे रहित केवल विशुद्ध सत्त्वगुणके धर्म हैं इस निष्ठासे सदा सच्चिदानन्दरसका स्वाद लेता है ॥ १२१ ॥

अव्यक्तमेतत्त्रिगुणैर्निरुक्तं तत्कारणं नाम शरीर-मात्मनः। सुषुप्तिरेतस्य विभुक्त्यवस्था प्रलीन-सर्वेन्द्रियबुद्धिवृत्तिः ॥ १२२ ॥

सूक्ष्मसे कारणदेहका भेद–सत्त्व रज तम इनकी साम्यावस्थाका नाम प्रकृति है जिसे अव्यक्त कहा है जिसके माया अविद्या आदि पर्याय-वाची शब्द लिख चुके हैं, यही अविद्या–कारण शरीर है। जीव इसीमें सुषुप्त होता है। यहां लिंगशरीर और कारणशरीरका भेद परिस्फुट

प्रतीत हो जाता है क्यों कि, इसमें सब इन्द्रियोंके व्यापार निवृत्त हो जाते हैं ॥ १२२ ॥

सर्वप्रकारप्रमितिप्रशान्तिर्बीजात्मनावस्थितिरेव बुद्धेः । सुषुप्तिरेतस्य किल प्रतीतिः किञ्चिन्न वेद्मीति जगत्प्रसिद्धेः ॥ १२३ ॥

सुषुप्तिका उपयोग—सुषुप्ति अवस्थामें सबतरहकी प्रमितिका नाश होनेसे संसारके बीजरूप अविद्याके साथ बुद्धिकी स्थिति रहती है इसमें प्रमाण यही है कि, मैं सुखसे सोया था मुझे कुछ मालूम नहीं हुआ ऐसा जागनेपर अविद्याका सार्वजनिक अनुभव होता है ॥ १२३ ॥

देहेन्द्रियप्राणमनोहमादयः सर्वे विकारा विषयाः सुखादयः। व्योमादिभूतान्यखिलं च विश्वमव्यक्तपर्य्यन्तमिदं ह्यनात्मा ॥ १२४ ॥

अनात्मवस्तुका संक्षेप--देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, अहंकार आदि सब विकार, सुख दुःख आदि सब विषय, आकाश आदि पञ्चभूत और यह अखिल संसार ये सब महा माया तक आत्मासे भिन्न अनात्मवस्तु हैं ॥ १२४ ॥

माया मायाकार्य्यं सर्वं महदादिदेहपर्य्यन्तम् । असदिदमनात्मकं त्वं विद्धि मरुमरीचिकाकल्पम् ॥१२५॥

माया और मायाके कार्योंको मिथ्या कहना—महत्त्वसे लेकर देहपर्य्यन्त सब मायाके कार्य तथा माया, ये सब आत्मासे भिन्न हैं और असत् हैं इन्हें मरुस्थलकी मरीचिकाकी तरह मिथ्या जानो । बालू रेतपर सूर्यकी किरणें पडनेसे जो पानीसा दीखता है उसे मरीचिका कहते हैं ॥ १२५ ॥

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि स्वरूपं परमात्मनः । यद्विज्ञाय नरो बन्धान्मुक्तः कैवल्यमश्नुते ॥ १२६ ॥

परमात्माका स्वरूप—अब मैं तुमसे कहूंगा, जिसके जाननेसे मनुष्य संसारबन्धसे मुक्त होकर कैवल्यमोक्षको पाता है ॥ १२६ ॥

अस्ति कश्चित्स्वयं नित्यमहं प्रत्ययलम्बनः ।
अवस्थात्रयसाक्षी सन् पञ्चकोशविलक्षणः ॥१२७॥

स्वयं नित्य एवं 'अहं' इस विज्ञानका आलम्बन एक है वही जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंका साक्षी है । अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय इन पांचों कोशोंसे विलक्षण है॥१२७॥

यो विजानाति सकलं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
बुद्धितद्वृत्तिसद्भावमभावमहमित्ययम् ॥ १२८ ॥

जो जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें, बुद्धि और बुद्धिकी वृत्तियोंके सद्भाव और अभाव इन सबको जानता है जिसकी 'अहम्' में यह प्रत्यभिज्ञा है ॥ १२८ ॥

यः पश्यति स्वयं सर्वं यं न पश्यति कश्चन ।
यश्चेतयति बुद्ध्यादि न तु यं चेतयन्त्ययम्॥१२९॥

जो स्वयं सबको देखता है पर उसको कोई नहीं देखता वही बुद्धि आदि सब जडपदार्थोंको चैतन्य करता है किन्तु उसको दूसरा कोई नहीं चेताता ॥ १२९ ॥

येन विश्वमिदं व्याप्तं यन्न व्याप्नोति किंचन ।
आभारूपमिदं सर्वं यं भान्तमनुभात्यदः ॥ १३० ॥

जो सब विश्वमें व्याप्तहै । उसमें कोई नहीं व्यापता, यह सब उसकी ही आभा है, सब ब्रह्मकेही प्रकाशके पीछे रोशन हो रहे हैं । सबमें परमात्माकाही तेज है । उसीकी सत्तासे सबका आस्तित्व व्यवहार हो रहा है१३०

यस्य सन्निधिमात्रेण देहेन्द्रियमनोधियः ।
विषयेषु स्वकीयेषु वर्तन्ते प्रेरिता इव ॥ १३१ ॥

जैसे किसीके कहनेसे किसी काममें कोई प्रवृत्त होता है तैसेही जिसके नगीच मात्र होनेसे देह इन्द्रिय मन बुद्धि ये सब अपने २ विषयमें प्रवृत्त होते हैं जैसे कि, कोई किसीका लगाया हुआ लगता है ३१

अहंकारादिदेहान्ता विषयाश्च सुखादयः ।
वेद्यन्ते घटवद्येन नित्यबोधस्वरूपिणा ॥ १३२ ॥

जिस सच्चिदानन्दरूपी आत्माकी कृपासे अहंकारसे लेकर देहपर्यन्त सब तत्त्व एवं स्थूल सूक्ष्म शरीर तथा सुख आदिक विषय, घटकी तरह जाने जाते हैं यानी उसीके प्रकाशसे प्रकाशित होकर इन्द्रिय अपने विषयोंको जान सकते हैं वो सर्वज्ञ है पर उसके प्रकाश देनेवाला कोई नहीं है पर वो सबको प्रकाश देता है ॥ १३२ ॥

एषोऽन्तरात्मा पुरुषःपुराणो निरन्तराखण्डसुखा-
नुभूतिः । सदैकरूपः प्रतिबोधमात्रो येनेषिता
वागसवश्चरन्ति ॥ १३३ ॥

यही पुराणपुरुष अन्तरात्मा है यहीं अखंड सुखका निरन्तर अनुभव होता है सदा एकरूप केवल ज्ञानमात्र परब्रह्म है जिससे प्रेरित हुए वाणी और प्राण ये सब अपने २ कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं ॥ १३३ ॥

अत्रैव सत्त्वात्मनि धीगुहायामव्याकृताकाश
उरुप्रकाशः । आकाश उच्चै रविवत्प्रकाशते
स्वतेजसा विश्वमिदं प्रकाशयन् ॥ १३४ ॥

सत्त्वांशसे बनीहुई, बुद्धि उपलक्षित अन्तःकरण रूपी गुफामें परम-प्रकाशशील सूक्ष्म आकाश है इसी आकाशमें ऊंचे चढा हुआ सच्चि-दानन्द परमात्मा, उसी आकाशमें ऊपर चढाहुआही अपने तेजसे सारें विश्वको प्रकाशित करके चमकता है, जैसे कि, सूर्य आकाशमें ऊंचा चढ-कर अपने तेजसे सारे विश्वको प्रकाशित करता हुआ चमकता है॥ १३४॥

ज्ञाता मनोऽहंकृतिविक्रियाणां देहेन्द्रियप्राणकृत-
क्रियाणाम् । अयोऽग्निवत्तामनुवर्त्तमानो न
चेष्टते नो विकरोति किञ्चन ॥ १३५ ॥

यह परमात्मा मन और अहंकारके विकारोंका और देह इन्द्रिय प्राण इन सबकी कीहुई क्रियाओंका ज्ञाता है। जैसे लोहा आगके संयोग होनेसे अग्नि जैसा बन जाता है पर वो वास्तवमें अग्नि नहीं होता इसी तरह आत्मा इन्द्रिय आदिके किये हुए कर्म विकारोंके साथ वैसा ही होजाता है परन्तु न कोई चेष्टा करता है एवं न किसी विकारको प्राप्त होता है केवल साक्षीरूपसे स्थित रहता है ॥ १३५ ॥

न जायते नो म्रियते न वर्धते न क्षीयते नो विक-
रोति नित्यः । विलीयमानेऽपि वपुष्यमुष्मिन्न
लीयते कुम्भ इवाम्बरं स्वयम् ॥ १३६ ॥

आत्मा स्वतः न जन्म लेता है न मरता है न बढता है न क्षीण होता है और न कभी विकारकोही प्राप्त होता है। नित्य है, कभी उसका नाश नहीं होता। इस शरीरके नष्ट होनेपरभी आत्मा जैसेका तैसा वर्तमान रहता है। जैसे घटके नाश होनेपरभी घटके भीतरके आकाशका नाश नहीं होता तैसेही शरीरके नाश होनेपरभी आत्माका कभी नाश नहीं होता ॥ १३६ ॥

प्रकृतिविकृतिभिन्नः शुद्धसत्त्वस्वभावः
सदसदिदमशेषं भासयन्निर्विशेषः ।
विलसति परमात्मा जाग्रदादिष्ववस्था-
स्वहमहमिति साक्षात्साक्षिरूपेण बुद्धेः ॥ १३७ ॥

परमात्मा अव्यक्त माया और उसके कार्योंसे भिन्न हैं शुद्ध सत्त्व-स्वभाव है जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें मैं सोया मैंने

देखा ऐसा ' अहं ' इस ज्ञानका विषय होनेसे साक्षात् बुद्धिका साक्षी होकर सारे स्थूल सूक्ष्म जगत्को वो निर्विशेष रूपसे प्रकाश करता हुआ स्वयं प्रकाशित हो रहा है ॥ १३७ ॥

नियमितमनसामुं त्वं स्वमात्मानमात्म-
न्ययमहमिति साक्षाद्विद्धि बुद्धिप्रसादात् ।
जनिमरणतरङ्गापारसंसारसिन्धुं-
प्रतर भव कृतार्थो ब्रह्मरूपेण संस्थः ॥ १३८ ॥

बुद्धिके निर्मल होनेपर एकाग्रचित्तसे अपनेमें अपने आत्माको देख. जो कि, सूक्ष्म शरीरके अवभासकके रूपमें स्थित होकर प्रकाश करता हुआ लक्षणासे ' अहम् मैं ' कहा जा रहा है उसे जान । जन्म-मरण रूपी तरंगोंसे पार न पाये जानेवाले संसारसमुद्रको पारकर ब्रह्मरूपसे स्थित होकर कृतार्थ हो ॥ १३८ ॥

अत्रानात्मन्यहमिति मतिर्बन्ध एषोऽस्य पुंसः
प्राप्तोऽज्ञानाज्जननमरणक्लेशसंपातहेतुः ।
येनैवायं वपुरिदमसत्सत्यमित्यात्मबुद्ध्या
पुष्यत्युक्षत्यवति विषयैस्तन्तुभिः कोशकृद्वत् ॥ १३९

बन्धका विवेचन—आत्मासे भिन्न इस शरीरको अपने अज्ञानसे आत्मा समझनाही बन्ध है । जिस पुरुषको अज्ञानके कारण यह बन्ध प्राप्त है उस पुरुषको यह जनन मरण आदि क्लेशसमूहोंको बन्धही सदा प्राप्त कराता रहता है।जिस बन्धके होनेसे मनुष्य अनित्य इस स्थूल-शरीरको आत्मबुद्धिसे सत्य समझके विषयोंसे पुष्ट करता सींचता और पालता है जैसे कि रेशमका कीडा अपने रेशमी डोरोंसे कोश बनाता हुआ उसीमें फँस जाता है उसी तरह जीव शरीरमें बद्ध है ॥ १३९ ॥

अतस्मिंस्तद्बुद्धिः प्रभवति विमूढस्य तमसा
विवेकाभावाद्वै स्फुरति भुजगे रज्जुधिषणा ।

ततोऽनर्थव्रातो निपतति समादातुरधिकः
ततो योऽसद्ग्राहः स हि भवति बन्धः शृणु सखे॥१४०॥

अविद्यासे मोह विशेपको प्राप्त हो असलमें जो वो नहीं है उसे वो समझता है जैसे कि, मनुष्योंका अनात्म असत्य शरीरादिकमें सत्य आत्म, वस्तुकी बुद्धि होती है। मोह होनेपर विवेकके अभाव होनेसे सर्पमें रज्जुबुद्धिकी स्फूर्ति होती है, पश्चात् सर्पको रज्जुबुद्धिसे वो पुरुष ग्रहण करता है, उसको आति अनर्थ प्राप्त होता है। इस कारण असद्वस्तुका ग्रहण करनाही बन्धनका कारण होता है॥ १४०॥

अखण्डनित्याद्वयबोधशक्त्या स्फुरन्तमात्मानमनन्तवैभवम् । समावृणोत्यावृतिशक्तिरेषा तमोमयी राहुरिवार्कबिम्बम् ॥ १४१ ॥

अखण्ड नित्य अद्वितीय बोधशक्तिसे प्रकाशमान अनन्तविभव इस आत्माको तमोगुणमयी यह आवरणशक्ति ढाँपलेती है, जैसे कि राहु प्रकाशमान सूर्य्यबिम्बको ढाँपलेता है॥ १४१॥

तिरोभूते स्वात्मन्यमलतरतेजोवति पुमान्
अनात्मनं मोहादहमिति शरीरं कलयति ।
ततः कामक्रोधप्रभृतिभिरमुं बन्धनगुणैः
परं विक्षेपाख्या रजस उरुशक्तिर्व्यथयति ॥ १४२ ॥

मायाकी प्रबल आवरणशक्तिसे, परमविशुद्ध प्रकाशस्वरूप आत्माके छिपजानेपर पुरुप मोहको प्राप्त होकर आत्मासे भिन्न इस जड शरीरमें ही अहंबुद्धि करके इसेही आत्मा मानने लगजाता है। इस शरीरमें अहंबुद्धि होनेके बाद, रजोगुणकी विक्षेपनामक शक्ति, काम, क्रोध आदि अपने बन्धनके गुणोंसे उस पुरुपको परमदुःख देती है॥१४२॥

महामोहग्राहग्रसनगलितात्मावगमनो
धियो नानावस्थां स्वयमभिनयस्तद्गुणतया ।

अपारे संसारे विषयविषपूरे जलनिधौ
निमज्ज्योन्मज्ज्यायं भ्रमति कुमतिः कुत्सितगतिः ४३

जिस पुरुषके आत्मज्ञानको महामोहरूप अविद्या ग्राह जब ग्रास कर-लेता है तब वह कुबुद्धि पुरुष, तमोगुणसे अपनी बुद्धिको नानाप्रकारकी अवस्थाको प्राप्त करता हुआ विषयरूप विषसे भराहुआ अपार संसार-समुद्रसे डूबता उतरताहुआ परम निन्दित गतिको प्राप्त होता है॥ १४३॥

भानुप्रभासंजनिताभ्रपङ्क्तिर्भानुं तिरोधाय विजृम्भते यथा । आत्मोदिताहंकृतिरात्मतत्त्वं तथा तिरोधाय विजृम्भते स्वयम् ॥ १४४ ॥

जैसे सूर्य्यकी प्रभासे उत्पन्न हुआ मेघमंडल सूर्यको छिपाकर अपने शरीरका विस्तार दिखाता है तैसेही आत्मासे उत्पन्न हुआ अहंकार आत्मतत्त्वको छिपाकर अपने रूपको बढाता है ॥ १४४ ॥

कवलितदिननाथे दुर्दिने सान्द्रमेघैर्व्यथयति हिमझंझावायुरुग्रो यथैतान् । अविरततमसात्मन्यावृते मूढबुद्धिः क्षपयति बहुदुःखैस्तीव्रविक्षेपशक्तिः॥

जैसे दुर्दिनमें सघनमेघसे सूर्यके छिपजानेपर शीतल जलकणोंसहित उत्कट प्रबल वायु मनुष्योंको व्यथा देता है, तैसेही तमोगुणसे आत्माके ढक जानेपर, मायाकी प्रबल विक्षेपशक्ति पुरुषोंको नानाप्रकारके क्लेश देती है ॥ १४५ ॥

एताभ्यामेव शक्तिभ्यां बन्धः पुंसः समागतः ।
याभ्यां विमोहितो देहं मत्वात्मानं भ्रमत्ययम् १४६

मायाकी आवरणशक्ति और विक्षेपशक्तिसे पुरुषको बन्ध प्राप्त होता है और इन्हीं दोनों शक्तियोंसे मोहित होनेपर इस देहमें आत्मबुद्धि उत्पन्न होती है ॥ १४६ ॥

बीजं संसृतिभूमिजस्य तु तमो देहात्मधीरङ्कुरो रागः पल्लवमम्बु कर्म तु वपुःस्कन्धोऽसवः शाखिकाः । आग्राणीन्द्रियसंहतिश्च विषयाः पुष्पाणि दुःखं फलं नानाकर्मसमुद्भवं बहुविधं भोक्तात्र जीवः खगः ॥ १४७ ॥

रूपककी रीतिसे संसारवृक्षका वर्णन—इस संसाररूप वृक्षका अविद्या बीज है, देहमें आत्मबुद्धि होना अंकुर है, देहादिमें प्रीति आदि होना पल्लव है, काम्यकर्म जल है, शरीर इस वृक्षका स्कन्ध है, प्राणआदि पञ्चवायु शाखा हैं, सब इन्द्रियाँ वृक्षका अग्रभाग हैं, शब्द आदि विषय पुष्प हैं, नानाप्रकारके कर्मोंसे उत्पन्न नाना प्रकारके दुःख फल हैं इस फलका भोक्ता जीवात्मा पक्षी है ॥ १४७ ॥

अज्ञानमूलोऽयमनात्मबन्धो नैसर्गिकोऽनादिरनन्त ईरितः । जन्माप्ययव्याधिजरादिदुःखप्रवाहपातं जनयत्यमुष्य ॥ १४८ ॥

यह जो अनात्मवस्तुका बन्ध है वह अज्ञानसे उत्पन्न है प्राकृतिक है, यही अनात्मबन्ध पुरुषके जन्म नाश व्याधि और जरा आदि दुःखप्रवाहोंको उत्पन्न करता है ॥ १४८ ॥

नास्त्रैर्न शस्त्रैरनिलेन वह्निना छेत्तुं न शक्यो न च कर्मकोटिभिः । विवेकविज्ञानमहासिना विना धातुः प्रसादेन सितेन मञ्जुना ॥ १४९ ॥

विना ज्ञानके सबका अछेद्य कहना—इस प्रबल अज्ञानरूप बन्धको विवेक और विज्ञानरूप महातरवारके और मनोहर स्वच्छ ईश्वरके प्रसादविना कोई अस्त्र शस्त्र छेदन नहीं करसकता । न वायु उडा सकता है । न अग्नि जलाही सकता है, न किसी तरहका कर्म ही उसका नाश करसकता है । वो तो केवल ज्ञानहीसे नष्ट होता है ॥ १४९ ॥

श्रुतिप्रमाणैकमतेः स्वधर्मनिष्ठा तयैवात्मविशुद्धिरस्य । विशुद्धबुद्धेः परमात्मवेदनं तेनैव संसारसमूलनाशः ॥ १५० ॥

श्रुति प्रमाण माननेवालेकी श्रेष्ठता—जो पुरुष श्रुतियोंका प्रमाण स्थिर मानता है उस पुरुषकी स्वधर्ममें श्रद्धा भक्ति होती है।इनके होनेसे बुद्धिकी शुद्धि होजाती है बुद्धिकी शुद्धि होनेसे परमात्माका ज्ञान होता है इसके होनेसेही संसारका समूल नाश होजाता है ॥ १५० ॥

कोशैरन्नमयाद्यैः पञ्चभिरात्मा न संवृतो भाति ।
निजशक्तिसमुत्पन्नैः शैवलपटलैरिवांबु वापीस्थम् १५१

आत्माके पञ्चकोशोंसे ढकजानेके कारण अप्रकाशित होना तथा उनके दूर होनेसे दीखनेका कथन—जैसे जलहीकी शक्तिसे उत्पन्न होकर शैवाल, बावडीके सब जलका आच्छादन कर लेता है तैसे ही आत्माकी शक्तिसे उत्पन्न होकर अन्नमय आदि पंचकोश आत्माको ढक लेता है, जिसमें प्रत्यक्ष रूप ईश्वरका प्रकाश नष्ट होजाता है ॥ १५१ ॥

तच्छैवालापनये सम्यक्सलिलं प्रतीयते शुद्धम् ।
तृष्णासन्तापहरं सद्यः सौख्यप्रदं परं पुंसः ॥ १५२॥

उस शैवालको दूर करनेसे पुरुषको पीतेही सौख्य देनेवाला तृषाके संतापका नाश करनेवाला परम पवित्र स्वच्छ जल दीखता है॥१५२॥

पञ्चानामपि कोशानामपवादे विभात्ययं शुद्धः ।
नित्यानन्दैकरसः प्रत्यग्रूपः परं स्वयंज्योतिः ॥१५३॥

तैसेही अन्नमय आदि पंचकोशोंको अलगकर लेनेपर, नित्य अखण्ड आनन्दस्वरूप जन्म आदिसे रहित स्वयंप्रकाशस्वरूप शुद्ध परब्रह्म प्रत्यग्रूप अर्थात् पांचोंके साक्षी जीवात्माके रूपमें चमकता है॥१५३॥

आत्मानात्मविवेकः कर्त्तव्यो बन्धमुक्तये विदुषा ।
तेनैवानन्दीभवति स्वं विज्ञाय सच्चिदानन्दम्॥१५४॥

संसारका बन्ध विमुक्त होनेके निमित्त विद्वान्को आत्मअनात्म-वस्तुकाविवेक करना चाहिये, जिस विचारसे अपनेको सच्चिदानन्दस्व-रूप समझके ज्ञानीलोग परमानन्दको प्राप्त होते हैं ॥ १५४ ॥

मुञ्जादिषीकामिव दृश्यवर्गात्प्रपञ्चमात्मानमसङ्ग-मक्रियम् । विविच्य तत्र प्रविलाप्य सर्वं तदा-त्मना तिष्ठति यः स मुक्तः ॥ १५५ ॥

जैसे प्रत्यक्ष दृश्य मुञ्जाको हटानेसे उसके भीतरका कीलक अलग दीखता है तैसे ही माया और उसके कार्योंसे इस सब प्रपञ्चको एवम् असंग अक्रिय आत्मारूप पुरुषको समझके तथा इसीमें प्रपञ्चको लय करके जो मनुष्यब्रह्मात्मभावसे स्थित रहता है वही मुक्त कहाता है ॥ १५५ ॥

देहोयमन्नभवनोऽन्नमयस्तु कोशश्चान्नेन जीवति विनश्यति तद्विहीनः ॥ १५६ ॥

अन्नमयकोश—यह स्थूल देह पिताके खाये हुए अन्नसे उत्पन्न है अत एव यह अन्नामयकोश कहाता है । अन्नहीसे इसका पालन होता है और अन्न न मिलनेसे विनाशको प्राप्त होजाताहै ॥ १५६ ॥

त्वक्चर्ममांसरुधिरास्थिपुरीषराशिर्नायं स्वयं भवितुमर्हति नित्यशुद्धः ॥ १५७ ॥

यह आत्मा नहीं—त्वचा चर्म मांस रुधिर अस्थि पुरीष इन्हीं सबका समूह है इसलिये यह देह, नित्यशुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा कभी नहीं होसकता है ॥ १५७ ॥

पूर्वं जनेरपि मृतेरपि नायमस्ति जातक्षणः क्षण-गुणोऽनियतस्वभावः । नैको जडश्च घटवत्परिदृश्य-मानः स्वात्मा कथं भवति भावविकारवेत्ता॥१५८॥

न होनेमें कारण—यह देह जन्मके पहिले भी न था न मरने बाद रहेगा। उत्पत्तिके समयमें दीखता है इसमें क्षणिक गुण हैं। इसकी स्थिरताका भी निश्चय नहीं है, अनन्तानन्त हैं, जड है घटकी तरह दीखता है। ऐसा यह उत्पन्न विकार जड देह, आत्मा क्योंकर हो सकता है॥ १५८॥

पाणिपादादिमान्देहो नात्मव्यङ्गेऽपि जीवति।
तत्तच्छक्तेरनाशाच्च न नियम्यो नियामकः ॥१५९॥

हाथ और पैर आदि अंगोंवाला यह देह, अंगोंके भंग होनेपरभी आत्माके रहते जीतारहता है इसलिये हस्तपादसंयुक्त यह शरीर आत्मा नहीं है जीवित रहनेका कारण तो यह है कि, अंगोंके खंज होनेपरभी उनकी शक्ति बनी रहती है। इससे शक्तिका नियम्य जो देह है सो नियामक आत्मा नहीं होसकता क्योंकि, नियम्य कभी नियामक नहीं बन सकता ॥ १५९ ॥

देहतद्धर्मतत्कर्मतदवस्थादिसाक्षिणः ।
स्वत एव स्वतःसिद्धं तद्वैलक्षण्यमात्मनः ॥ १६० ॥

देहसे आत्माकी विलक्षणता—देह, देहके धर्म, कर्म और अवस्था आदिके साक्षी आत्माकी देहसे विलक्षणता आपसे आपही सिद्ध है ॥ १६० ॥

शल्यराशिर्मांसलिप्तो मलपूर्णोऽतिकश्मलः ।
कथं भवेदयं वेत्ता स्वयमेतद्विलक्षणः ॥ १६१ ॥

अस्थिका समूह मांससे लिप्त मलसे परिपूर्ण अतिनिन्दित यह देह कैसे ज्ञाता हो सकता है क्योंकि, वो इससे स्वयंही विलक्षण है ॥१६१॥

त्वङ्मांसमेदोऽस्थिपुरीषराशावहंमतिं मूढजनः करोति। विलक्षणं वेत्ति विचारशीलो निजस्वरूपं परमार्थभूतम् ॥ १६२ ॥

मूढ देहकोही आत्मा समझते हैं—त्वचा अस्थि पुरीषके समूह इस देहमें जो (मैं मेरा) करता है वह अतिमूढ है। जो विचारवान् हैं वे परमार्थभूत आत्मरूपको देहसे विलक्षण जानते हैं ॥ १६२ ॥

देहोऽहमित्येव जडस्य बुद्धिर्देहे च जीवे विदुषस्त्वहंधीः । विवेकविज्ञानवतो महात्मनो ब्रह्माहमित्येव मतिः सदात्मनि ॥ १६३ ॥

मूढोंकी अहंबुद्धि देहमें ही होती है कि, मैं शरीर हूं पर जीवमें आत्म-बुद्धि-विद्वानोंकी होती है । किन्तु विवेक और विज्ञानवाले महात्मा पुरुषकी, नित्य आत्मामें अहं मति-होती है कि, मैं ब्रह्म हूं उसीने आत्म और अनात्म वस्तुका विवेक करके आत्माकीही कृपासे आत्माका साक्षात्कार करलिया है ॥ १६३ ॥

अत्रात्मबुद्धिं त्यज मूढबुद्धे त्वङ्मांसमेदोऽस्थिपुरीषराशौ । सर्वात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे कुरुष्व शान्तिं परमां भजस्व ॥ १६४ ॥

मूढबुद्धिको उपदेश-हे मूढजन ! त्वचा, मांस, मज्जा, अस्थि और पुरीषका समूह यह देह है । इस देहमें जो तुम्हारी आत्मबुद्धि हुई है इसको छोडकर विकल्पसे रहित यानी अद्वितीय सबके आत्मा परब्रह्ममें आत्म-बुद्धि करके परमशान्तिको पा लो ॥ १६४ ॥

देहेन्द्रियादावसति भ्रमोदितां विद्वानहन्तां न जहाति यावत् । तावन्न तस्यास्ति विमुक्तिवार्त्ताप्यस्त्वेष वेदान्तलयान्तदर्शी ॥ १६५ ॥

कबतक मुक्ति नहीं-अनित्य इस देह और इन्द्रियोंमें भ्रमसे उत्पन्न हुई अहंबुद्धिको जबतक वो मनुष्य नहीं त्याग करता है तबतक वेदान्तशास्त्र और नीतिमार्गका पारदर्शी होनेपरभी उसके मुक्त होनेकी वार्ताभी उससे दूर रहती है ॥ १६५ ॥

छायाशरीरे प्रतिबिम्बगात्रे यत्स्वप्नदेहे हृदि कल्पिताङ्गे । यथात्मबुद्धिस्तव नास्ति काचिज्जीवच्छरीरे च तथैव मास्तु ॥ १६६ ॥

स्वप्नसे जात्प्रका साम्य—अपने शरीरकी छायामें तथा अपने शरी-रके प्रतिबिम्बमें और हृदयके कल्पित अंगवाले स्वप्नावस्थाके शरीरमें जैसे तुम्हारी कोई आत्मबुद्धि नहीं होती तैसेही इस जीवित शरीरमें भी तुम्हें आत्मबुद्धि न होनी चाहिये॥ १६६॥

देहात्मधीरेव नृणामसद्धियां जन्मादिदुःखप्रभ-
वस्य बीजम्। यतस्ततस्त्वं च हि तां प्रयत्ना-
त्त्यक्ते तु चित्ते न पुनर्भवाशा॥ १६७॥

देहात्म बुद्धिका दोष तथा इसके त्यागके गुण—इस देहमें आत्मबुद्धिही भेद-बुद्धि है इस कारण तुम इस देहमें कीहुई आत्मबुद्धिको चित्तसे त्याग दो। इसे त्यागनेपर फिर जन्म होनेकी आशाभी न होगी॥ १६७॥

कर्म्मेन्द्रियैः पञ्चभिरञ्चितो यः प्राणो भवेत् प्राण-
मयस्तु कोशः। येनात्मवानन्नमयोऽन्नपूर्णात्प्रव-
र्त्ततेऽसौ सकलक्रियासु॥ १६८॥

प्राणमयकोश तथा उसका कार्य्य—प्राण जो है वही वाणी आदि पांच कर्मेन्द्रियोंसे संयुक्त होकर प्राणमयकोश होता है. जिससे यह स्थूल देह आत्मवान् होता है और अन्नसे पूर्ण होनेसे अन्नमयकोश कहा जाता है और प्राणयुक्त होनेसे यावत् क्रियामें प्रवृत्त होता है॥ १६८॥

नैवात्मापि प्राणमयो वायुविकारो गन्तागन्ता
वायुवदन्तर्बहिरेषः। यस्मात्किञ्चित्क्वापि न वेत्ती-
ष्टमनिष्टं स्वं वान्यं वा किञ्चन नित्यं परतन्त्रः १६९

प्राणमय आत्मा नहीं—वायुका विकार प्राणमय कोश है, वायुके सदृश अन्तर्बाह्य गमन आगमन करता है और कभी कोई इष्ट अनिष्ट और अपना पराया कुछ नहीं जानता है इसलिये सदा परतंत्र जो प्राणमय-कोश है वह आत्मा नहीं है॥ १६९॥

वायुविकारः इस पदका विशेष विचार—वेदान्तमें ग्यारहो इन्द्रियाँ और मुख्य प्राणोंका प्राण शब्दसे व्यवहार देखा जाता है। प्राणमय-कोशमें आया हुआ प्राण शब्द मुख्य प्राणकाही वाचक है जो कि, वृत्तिभेदसे प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान भेदसे पांच प्रकरका होजाता है। वेदान्त ब्रह्मसूत्रके दूसरे अध्यायके चौथे पादमें—'प्राणोत्पत्त्यधिकरण, सप्तगत्यधिकरण, प्राणाणुत्वाधिकरण, प्राणश्रेष्ठयाधिकरण, श्रेष्ठाणुत्त्वाधिकरण, वायुक्रियाधिकरण, ये पांच अधिकरण हैं, पहिलेमें प्राणकी उत्पत्तिका विचार, दूसरेमें प्राण शब्द वाच्य इन्द्रियोंके भेद, तीसरेमें उनका अणुपरिमाण तथा चौथेमें, मुख्य प्राण जिसके कि, प्राण अपान आदि पांच भेद किये हैं उसे अणु परिमाण वाला और श्रेष्ठ कहा है। तथा पांचमें अधिरणमें कहदिया है कि, न प्राण वायु है एवं न वायुकी क्रियाही है। प्राणका स्वरूप क्या है? यह भी इसी अधिकरणमें श्रीशंकराचार्य्यजीने कहदिया है कि, "वायुरेवायम् अध्यात्ममापन्नः पञ्च व्यूहो विशेषात्मनावतिष्ठमानः प्राणोनाम भण्यते न तत्त्वान्तरं नापि वायुमात्रं अतश्चोभे अपि भेदाभेदश्रुती न विरुध्येते" यह वायुही, देहको प्राप्त होकर स्थान भेदसे प्राण अपान उदान व्यान और समानके रूपमें होकर विशेषात्मना—यानी विकार रूपसे स्थित होकर प्राण कहा जाता है न वो कोई दूसरा तत्त्व है एवं न वायु मात्रही है। इस कारण उत्पत्तिप्रकरणमें वायुकी उत्पत्तिके साथही साथ प्राणकी उत्पत्ति तथा प्राणको वायु कहना दोनों ही संगत होजाते हैं।

यहाँ यह संशय उत्पन्न होता है कि, छा० ६प्र०ख १ में जो कारणका ही रूप कार्य्य कहदिया है कि, "वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" वाणीके व्यवहारके लिये मट्टीके पिण्डकेही घट और शराव ये नाम रूप होजाते हैं वास्तवमें वो मिट्टी है इसी तरह वायुका विकार प्राण भी वायुही होगा। तब सुतराम् सूत्र और भेदवादिनी श्रुतिके साथ विरोध

होगा जो कि, श्रुति वायुके साथ प्राणकी भी पृथक् उत्पत्ति बता रही है। इस कारण प्राणको वायु विकार कहना उचित नहीं है इसी अरुचिको लेकर फिर श्रीशंकराचार्य्यजीने कहा है कि, " गन्ताऽऽगन्ता वायुवदन्तर्बहिरेषः " यानी शरीरके बाहिर भीतर जाता हुआ यह वायुकी तरह लगता है अर्थात् इसका आवागमन वायुवत् होता है इस कारण इसमें वायुके विकार होनेकी भ्रान्ति होती है उसी बातको लेकर ' वायुविकार ' कहदिया है । वास्तवमें यह–" तैः सर्वैः सहितैः प्राणो वृत्तिभेदात् स पञ्चधा"–पांचो भूतोंके मिश्र सत्त्वांशसे प्राण उत्पन्न हुआ, यह प्राण अपान आदि व्यापारके भेदसे पांच तरहका होजाता है।' वायुवत्'कहनेसे इस बातकी भी प्रतीति होती है कि, ''यः प्राणः स वायुः ' यहां वायुकी वायुसदृशमें लक्षणा है । गमन आगमन आदि समान धर्म हैं । इस प्राणको इन्द्रियोंका प्रवर्तक माना है इस कारण इसका राजस होना प्रत्यक्ष दीख रहा है ।

वेदोंके भाष्यकरनेवाले वेदान्तपंचदशीके कर्ताने प्राणोंकी उत्पत्ति इसी प्रकार कही है हम उनके बराबर किसी दूसरेको शांकरसिद्धान्तका ज्ञाता नहीं समझते, ये संशोधकके स्वतंत्र विचार हैं ॥

ज्ञानेन्द्रियाणि च मनश्च मनोमयः स्यात्
कोशो ममाहमिति वस्तुविकल्पहेतुः ।
संज्ञादिभेदकलनाकलितो बलीयां
स्तत्पूर्वकोशमभिपूर्य्य विजृम्भते यः ॥ १७० ॥

मनोमय कोश तथा उसका कार्य–श्रोत्र आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन ये सब मिलके मनोमय कोश होता है यह गेह देह आदिमें अहंकार करता रहता है । वस्तुके विकल्पका कारण है । नाना प्रकारके संज्ञा आदि भेदोंकी कल्पनासे घिरा रहता है तथा बडा बलवान् है । यह प्राणमयकोशको परिपूर्ण करके विराजता है ॥ १७० ॥

पञ्चेन्द्रियैः पञ्चभिरेव होतृभिः प्रचीयमानो विषयाज्यधारया । जाज्वल्यमानो बहुवासनेन्धनैर्मनोमयाग्निर्दहति प्रपञ्चम् ॥ १७१ ॥

मनोमय कोशरूपी अग्निका अग्निहोत्र, पञ्च ज्ञानेन्द्रियरूप पांच होताओंसे संचित की गई, विषयरूपी घृतधारासे अतिशय प्रदीप्त की गई मनोमय कोशरूपी अग्नि, अनेक जन्मकी बहु वासनारूपी इन्धनसें नाना प्रकारके महाप्रपञ्चोंको अपनेमें स्वाहा करती रहती है ॥ १७१॥

न ह्यस्त्यविद्या मनसोऽतिरिक्ता मनो ह्यविद्या भवबन्धहेतुः । तस्मिन्विनष्टे सकलं विनष्टं विजृम्भितेऽस्मिन्सकलं विजृम्भते ॥ १७२ ॥

मन और अविद्याकी एकता—मनसे अतिरिक्त दूसरी अविद्या नहीं है। मनही अविद्या है । यही संसार, बन्ध और मोक्षका कारण है । मनकी तरंग नष्ट होनेसे सकल प्रपञ्च नष्ट होजाता है और मनके बढनेसें सकल प्रपंच बढ जाता है ॥ १७२ ॥

स्वप्नेऽथ शून्ये सृजति स्वशक्त्या भोक्त्रादिविश्वं मन एव सर्वम् । तथैव जाग्रत्यपि नो विशेषस्तत्सर्वमेतन्मनसो विजृम्भणम् ॥ १७३ ॥

स्वप्न और जाग्रतमें एकसीही मनकी तरंगें हैं—जैसे स्वप्न अवस्थामें अथवा शून्य प्रदेशमें मनही भोक्ता भोग्य आदि सब विश्वकी सृष्टि करता है,तैसेही जाग्रत अवस्थामें भी करता है दोनोंमें कुछ विशेष नहीं है यह सम्पूर्ण प्रपञ्च केवल मनहीकी लहरें हैं ॥ १७३ ॥

सुषुप्तिकाले मनसि प्रलीने नैवास्ति किंचित्सकलप्रसिद्धेः । अतो मनःकल्पित एव पुंसः संसार एतस्य न वस्तुतोऽस्ति ॥ १७४ ॥

मनसे वन्ध है यथार्थमें नहीं है—सुपुप्तिकालमें जब मनका लय होजाता है उस समय किसी वस्तुका भान नहीं होता यह सब जानते हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है कि, मनका रचा हुआही पुरुषका वन्धन हैं वास्तवमें नहीं है ॥ १७४ ॥

ॐ ॥ वायुनाऽऽनीयते मेघः पुनस्तेनैव नीयते ।
मनसा कल्प्यते बन्धो मोक्षस्तेनैव कल्प्यते॥१७५॥

दृष्टान्तपूर्वक मनसे वन्ध मोक्ष कथन—जैसे वायु मेघको लाता है, फिर वही वायु मेघको अन्यत्र उडा देता है इसी तरह मनसेही पुरुषकी वन्धकल्पना होती है और मनहीसे मोक्ष भी होता है ॥ १७५ ॥

देहादिसर्वविषये परिकल्प्य रागं वध्नाति तेन पुरुषं पशुवद्गुणेन । वैरस्यमत्र विषवत्सु विधाय पश्चादेनं विमोचयति तन्मन एव बन्धात् ॥ १७६ ॥

जैसे मनुष्य रस्सीसे पशुको बांधता है तैसेही मन देह आदि सवी, विषयोंमें प्रीति बढाकर विषयगुणसे पुरुषको फँसा देता है। पीछे यही मन विषयोंमें विषसमान विरसताको प्राप्त कर बन्धसे पुरुषको बचालेताहै७६

तस्मान्मनः कारणमस्य जन्तोर्बन्धस्य मोक्षस्य च वा विधाने। बन्धस्य हेतुर्मलिनं रजोगुणै-र्मोक्षस्य शुद्धं विरजस्तमस्कम् ॥ १७७ ॥

मन कैसा बन्ध तथा मोक्षका कारण है—मनुष्योंके बन्ध और मोक्ष दोनोंके विधानमें आदिकारण मनही है, रजोगुणके योगसे मलिन होकर मन बन्धका कारण होता है, रजोगुण तमोगुणसे रहित हुआ शुद्धसत्त्व प्रधान मन, पुरुषके मोक्षमें कारण होता है ॥ १७७ ॥

विवेकवैराग्यगुणातिरेकाच्छुद्धत्वमासाद्य मनो-विमुक्त्यै । भवत्यतो बुद्धिमतो मुमुक्षोस्ताभ्यां दृढाभ्यां भवितव्यमग्रे ॥ १७८ ॥

मनको शुद्ध करनेवाली—विवेक और वैराग्यके गुणोंकी वृद्धिही है, इससे मन शुद्धताको प्राप्त होकर मोक्षका कारण होता है इसलिये बुद्धिमान् मुमुक्षु पुरुषोंको प्रथम विवेक और वैराग्य प्राप्त करना योग्य है॥१७८॥

मनो नाम महाव्याघ्रो विषयारण्यभूमिषु । ॐ॥
चरत्यत्र न गच्छन्तु साधवो ये मुमुक्षवः ॥ १७९ ॥

विषय वनका महाव्याघ्र—मन है, यह सदा इसमें फिरता रहता है इसलिये समीचीन मुमुक्षु पुरुषोंको, विषयरूपी वनभूमिमें कभी न जाना चाहिये ॥ १७९ ॥

मनः प्रसूते विषयानशेषान्स्थूलात्मना सूक्ष्मतया च भोक्तुः । शरीरवर्णाश्रमजातिभेदान्गुणाक्रियाहेतुफलानि नित्यम् ॥ १८० ॥

मनकी सृष्टि—जाग्रतमें स्थूल रूपसे तथा स्वप्नमें सूक्ष्मरूपसे सम्पूर्ण विषयोंको मनही उत्पन्न करता है तथा भोक्ताके, वर्णाश्रम जातिभेद गुण क्रिया कारण और फल इन सबको भी सदा मनही उत्पन्न करता है ॥ १८० ॥

असङ्गचिद्रूपममुं विमोह्य देहेन्द्रियप्राणगुणैर्निबध्य । अहंममेति भ्रमयत्यजस्रं मनः स्वकृत्येषु फलोपभुक्तिषु ॥ १८१ ॥

पुरुषका भ्रामक—मन, इस असंग चैतन्यस्वरूप पुरुषको मोहित कर देह इन्द्रिय प्राण और सत्त्वादिगुणोंसे बांध, स्वयं मनकल्पित जो सुखदुःखआदि फल हैं उसके उपभोगमें अहं मम अर्थात् 'यह मैं हूं यह मेरा है, ' ऐसे रूपसे उस पुरुषको भरमाता रहता है ॥ १८१ ॥

अध्यासदोषात्पुरुषस्य संसृतिरध्यासबन्धस्त्वमुनैव कल्पितः । रजस्तमोदोषवतोऽविवेकिनो जन्मादिदुःखस्य निदानमेतत् ॥ १८२ ॥

अध्यासका कारण—अध्यासारोपेक दोषसे पुरुषको संसार होता है। मनही अध्यासरूप बन्धकी कल्पना करता है,इसलिये रजस्तमरूपदोषयुक्त मनही अविवेकी पुरुषके जन्म मरण आदि दुःखोंका आदि कारण है ॥ १८२ ॥

अतः प्राहुर्मनोऽविद्यां पण्डितास्तत्त्वदर्शिनः ।
येनैव भ्राम्यते विश्वं वायुनेवाभ्रमण्डलम् ॥ १८३ ॥

इसलिये यथार्थदर्शी पण्डित लोग मनहीको अविद्या कहते हैं, जैसे वायुके वेगसे मेघमण्डल भ्रमण करता है तैसेही मनके वेगसे सम्पूर्ण विश्व भ्रमको प्राप्त हो रहा है ॥ १८३ ॥

ॐ ॥ तन्मनःशोधनं कार्य्यं प्रयत्नेन मुमुक्षुणा ।
विशुद्धे सति चैतस्मिन्मुक्तिः करफलायते ॥१८४ ॥

इस कारण मोक्षार्थी पुरुषोंको प्रयत्नसे प्रथम मनहीका शोधन करना योग्य है । मनके विशुद्ध होनेपर मुक्ति तो हस्तामलकके समान हो जायगी ॥ १८४ ॥

मोक्षैकशक्त्या विषयेषु रागं निर्मूल्य संन्यस्य च सर्वकर्म । सच्छ्रद्धया यः श्रवणादिनिष्ठो रजःस्वभावं स धुनोति बुद्धेः ॥ १८५ ॥

मोक्षकी प्रवल शक्तिसे जो पुरुष विषय प्रीतिका निर्मूल नाश कर और सब काम्य कर्मोंको त्यागकर सम्यक् श्रद्धासे श्रवण मनन आदि उपायमें युक्त होता है वही मनुष्य बुद्धिके रजोगुणी स्वभावको दूर करदेता है ॥ १८५ ॥

मनोमयो नापि भवेत्परात्मा ह्याद्यन्तवत्त्वात्परिणामभावात् । दुःखात्मकत्वाद्विषयत्वहेतोर्द्रष्टा हि दृश्यात्मतया न दृष्टः ॥ १८६ ॥

मनोमयकोश भी परमात्मा नहीं—क्योंकि, मनोमयकोश उत्पत्तिविनाशयुक्त है और वृद्धिक्षयको भी प्राप्त होता है और दुःखात्मक है

विषयोंका कारण है, आत्मा तो आदि अन्तसे रहित, उत्पत्तिविनाशरहित, सुखात्मक, विषयातिरिक्त सबका एवं द्रष्टा है। जो द्रष्टा होता है वह दृश्य होकर नहीं दीखता, इसलिये मनोमयकोश भी आत्मा नहीं है १८६

बुद्धिर्बुद्धीन्द्रियैः सार्द्धं संवृत्तिः कर्तृलक्षणः।
विज्ञानमयकोशः स्यात्पुंसः संसारकारणम्॥ १८७॥

विज्ञानमयकोश—पंचज्ञानेन्द्रियसहित और अपनी वृत्तिसंयुक्त जो बुद्धि है वही कर्तृत्वयुक्त विज्ञानमयकोश होती है। पुरुषके संसारका कारण भी यही है। जिससे आत्मामें भी उत्पत्तिविनाशरूप संसारकी संभावना होती है ॥ १८७ ॥

अनुव्रजच्चित्प्रतिबिम्बशक्तिर्विज्ञानसंज्ञः प्रकृतेर्विकारः। ज्ञानक्रियावानहमित्यजस्रं देहेन्द्रियादिष्वभिमन्यते भृशम् ॥ १८८ ॥

इसके कार्य—चैतन्यकी प्रतिबिम्बशक्तिसे युक्त होकर प्रकृतिका विकार विज्ञानमयकोश देह और इन्द्रियोंमें 'मैं ज्ञानी हूं, मैं क्रियावान् हूं' ऐसा अभिमान करता है ॥ १८८ ॥

अनादिकालोऽयमहं स्वभावो जीवः समस्तव्यवहारवोढा। करोति कर्माण्यपि पूर्ववासनः पुण्यान्यपुण्यानि च तत्फलानि ॥ १८९ ॥

अनादि कालका अहंकार स्वभाव संयुक्त यह जीव है। यही समस्त व्यवहारको प्राप्त करता है। पूर्ववासनाओंसे प्रेरित होकर अच्छे बुरे कर्मोंको करता है। पुण्य और पाप उन कर्मोंके फल होते हैं ॥१८९॥

भुंक्ते विचित्रास्वपि योनिषु व्रजन्नायाति निर्यात्यध ऊर्ध्वमेषः। अस्यैव विज्ञानमयस्य जाग्रत्स्वप्नाद्यवस्था सुखदुःखभोगः ॥ १९० ॥

इसकीही तीनों अवस्थाएँ हैं—नाना तरहकीभी योनियोंमें घूमता हुआ भी उन्हें भोगता है । परलोकको जाता है इस लोकको भी आता है । इस विज्ञानमय कोशकी जाग्रत स्वप्नादि अवस्थाएँ हैं, इन्हींमें सुख दुःखका अनुभव करता है ॥ १९० ॥

देहादिनिष्ठाश्रमधर्मकर्मगुणाभिमानं सततं ममेति । विज्ञानकोशोऽयमतिप्रकाशः प्रकृष्टसान्निध्यवशात् परात्मनः । अतो भवत्येव उपाधिरस्य यदात्मधीः संसरति भ्रमेण ॥ १९१ ॥

यही कर्ता भोक्ता है—यह विज्ञानमय कोश परमात्माके अत्यन्त सन्नि-हित रहनेके कारण अत्यन्त ही प्रकाशवाला है । यही सब वस्तुओंका परम प्रकाशक है । देहमें रहनेवाले वर्णाश्रम, धर्म, कर्म और गुणोंको सदा अपने कहता रहता है, अत एव यह विज्ञानमयकोशही आत्माकी उपाधि है । जब देहादिमें भ्रमसे आत्मबुद्धि होती है तब यह नाना तरहकी व्याधिको प्राप्त होकर संसारको प्राप्त होता है ॥ १९१॥

योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृदि स्फुरत्ययं ज्योतिः । कूटस्थः सन्नात्मा कर्त्ता भोक्ता भवत्युपाधिस्थः १९२

इस कोशको आत्माकी उपाधि होनेमें प्रमाण देते हैं कि—विज्ञानमयकोश (बुद्धि) रूपी उपाधिके संपर्कके अविवेकसे वैसा ही बना हुआ आत्मा भी विज्ञानमय कहा जाता है । यह प्राण इन्द्रियगण और मनमेंसे बुद्धिके भीतर प्रकाशस्वरूप पुरुष है, जिसके कि प्रकाशसे सबके अस्त होने परभी द्योत रहता है । यह यहां पर्वतशृंगकी तरह निर्विकारभावसे रहता हुआ भी उपाधियुक्त होनेके कारण कर्ता भोक्ता बन जाता है । हृदि पदके हृत् शब्दका आखिरी भाव बुद्धि है. क्योंकि, हृदयकमलमें बुद्धि रहती है । इस सम्बन्धसे हृदयसे बुद्धिका बोध होता है । बुद्धिके स्वच्छ तथा समीपमें होनेसे आत्माकी चैतन्य ज्योतिकी इसमें प्रति-

च्छाया होती है। इससे यह चैतन्य होती है अत एव बुद्धिमें आत्माभिमान होता है। इसीसे इसका समीपी मन तथा मनके संयोगसें दूसरे इन्द्रियगण चैतन्यसे होजाते हैं, इन्द्रियोंके संपर्कसे शरीर चैतन्य होता है॥ १९२॥

स्वयं परिच्छेदमुपेत्य बुद्धेस्तादात्म्यदोषेण परं मृषात्मनः। सर्वात्मकः सन्नपि वीक्षते स्वयं स्वतः पृथक्त्वेन मृदो घटानिव॥ १९३॥

परिच्छिन्न क्यों दीखता है—यद्यपि स्वयं सर्वात्मक परमात्मा सर्वस्वरूप है तो भी मिथ्यात्मक बुद्धिके तादात्म्य दोषकोप्राप्त होनेके कारण देहस्थ जीवभावको प्राप्त होकर स्वयं अपनेको सबसे अलग तथा अपनेसे सबको अलग देखता है। जैसे मृत्तिकासे घट अलग दीखता है पर वास्तविक अलग नहीं है तैसेही आत्मा किसीसे अलग नहीं है सब आत्मा ही हैं॥ १९३॥

उपाधिसम्बन्धवशात्परात्मा ह्युपाधिधर्माननुभाति तद्गुणः। अयोविकारा न विकारिवह्निवत्सदैकरूपोऽपि परः स्वभावात्॥ १९४॥

आरोपित हैं वास्तविक नहीं—उपाधिके सम्बन्धवशसे उसी तरहका हो उपाधिसे धर्मके अनुसार हुआ वैसाही मालूम देता है जैसे कि, विकार युक्त लोहकेसाथ संबन्ध होनेसे उसमें प्रविष्ट हुआ अग्नि भी विकारयुक्त दीखता है अर्थात् जैसी आकृति लोहेकी होती है तैसीही आकृति लोहेके संबन्ध होनेसे उसमेंके अग्निकी मालूम होती है परंतु अग्नि तो सदा अपने स्वभावसे एकरूपही रहता है तैसे परमात्मा सदा एकरूपहै॥९४॥

शिष्य उवाच॥

भ्रमेणाप्यन्यथा वास्तु जीवभावः परात्मनः। तदुपाधेरनादित्वान्नानादेर्नाश इष्यते॥ १९५॥

अनादि उपाधिके नाश होने आदिमें शिष्यका प्रश्न—इतना उपदेश गुरु मुखसे सुनकर फिर शिष्य गुरुसे प्रश्न करता है कि, जो परमात्मा जीव-भावको प्राप्त हुआ है वह भ्रमसे हुआ हो चाहे और किसीतरह हो परन्तु जीवकी उपाधि अनादि है और जो अनादि है उसका नाश भी नहीं होता है ॥ १९५ ॥

अतोऽस्य जीवभावोऽपि नित्या भवति संसृतिः ।
न निवर्तेत तन्मोक्षः कथं मे श्रीगुरो वद ॥ १९६ ॥

उपाधिके अनादि होनेसे आत्माका जीवभाव और संसार ये दोनों नित्य हुए । नित्य होनेसे ये दोनों निवृत्त न होंगे जब कि, निवृत्त न हुए तो मोक्ष कैसे होगा ? ॥ १९६ ॥

गुरुरुवाच ॥

ॐ ।। सम्यक्पृष्टं त्वया वत्स सावधानेन तच्छृणु ।
प्रामाणिकी न भवति भ्रांत्या मोहितकल्पना ॥ १९७ ॥

गुरुका उत्तर—गुरुजी बोले कि हे वत्स ! तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया है उसका उत्तर मैं कहताहूं सावधान होकर सुनो। भ्रांतिसे कीगई जो परमात्मामें जीवभावकी मिथ्या कल्पनाहै वह प्रामाणिकी नहींहै९७

भ्रांतिं विना त्वसंगस्य निष्क्रियस्य निराकृतेः ।
न घटेतार्थसम्बन्धो नभसो नीलतादिवत् ॥ १९८ ॥

भ्रान्ति कारण है—जैसे कि, आकाशमें श्यामता भ्रांतिकल्पित है वास्तविक आकाशका कोई रूप नहीं रहता तैसेही आकृतिसे रहित असङ्ग आत्माके विषयसंबन्धकी घटना भी भ्रान्ति परिकल्पित है वास्तवमें करनी अयोग्य है ॥ १९८ ॥

स्वस्य द्रष्टुर्निर्गुणस्याक्रियस्य प्रत्यग्बोधानन्द-
रूपस्य बुद्धेः । भ्रान्त्या प्राप्तो जीवभावो न सत्यो
मोहापाये नास्त्यवस्तुस्वभावात् ॥ १९९ ॥

स्वयं द्रष्टा गुणक्रियासे रहित प्रत्यग्बोधानन्दस्वरूप परमात्मामें बुद्धिकी भ्रान्तिसे जीवभाव प्राप्त होता है पर वास्तविक रूपसे वह सत्य नहीं है। मोहके नाश होनेपर स्वभावहीसे अनित्य वस्तु जीवभाव आदिका नाश होजाता है क्योंकि, मिथ्या यथार्थके सामने स्वतःही विलाजाता है॥

यावद्भ्रान्तिस्तावदेवास्य सत्ता मिथ्याज्ञानोज्जृ-
म्भितस्य प्रमादात्। रज्ज्वां सर्पो भ्रान्तिकालीन
एव भ्रान्तेर्नाशे नैव सर्पोऽपि तद्वत् ॥ २०० ॥

जैसे रज्जुमें सर्पका भान होता है वह बुद्धिके प्रमादसे है। जब तक भ्रांतिकी स्थिति है तबतकही सर्पकी सत्ता है। भ्रान्तिके नाश होनेपर सर्पबुद्धिका भी नाश होजाता है तैसेही जबतक भ्रांति है तबतकही मिथ्याज्ञान परिकल्पित जीवसत्ता रहती है। भ्रमके नाश होनेपर जीव-भाव नष्ट होकर केवल आत्मसत्ताकाही भान होता है ॥ २०० ॥

अनादित्वमविद्यायाः कार्य्यस्यापि तथेष्यते। ॐ॥
उत्पन्नायां तु विद्यायामाविद्यकमनाद्यपि ॥
प्रबोधे स्वप्नवत्सर्वं सहमूलं विनश्यति ॥ २०१ ॥

माया और मायाके कार्य्य ये दोनों अनादि हैं। जब ज्ञान उत्पन्न होजाता है, तब अनादि माया अपने कार्योंसहित नष्ट होजाती है; जैसे कि, स्वप्नावस्थाके सब कार्य निद्रा खुलनेपर नष्ट होजाते हैं ॥ २०१ ॥

अनाद्यपीदं नो नित्यं प्रागभाव इव स्फुटम् ।
अनादेरपि विध्वंसः प्रागभावस्य वीक्षितः ॥ २०२ ॥

यद्यपि मायाकार्य्य सब अनादि हैं, तथापि नित्य नहीं है क्योंकि, प्रागभाव अनादि है परन्तु जिस वस्तुका अभाव रहता है उस वस्तुका सद्भाव होनेसे उस अभावका नाश होजाता है तैसेही नित्यभी माया और उसके कार्य, ज्ञान उत्पन्न होनेपर नष्ट होजाते हैं ॥ २०२ ॥

यद्बुद्ध्युपाधिसंबन्धात्परिकल्पितमात्मनि ।
जीवत्वं न ततोऽन्यस्तु स्वरूपेण विलक्षणः ॥२०३॥
सम्बन्धः स्वात्मनो बुद्ध्या मिथ्याज्ञानपुरःसरः २०४

बुद्धिरूप उपाधिके सम्बन्ध होनेपर परमात्मामें जीवत्वकी कल्पना होती है सिवा इसके अन्यहेतु नहीं है, मिथ्याज्ञानपूर्वक बुद्धिके साथ आत्माका स्वरूपसे विलक्षणसम्बन्ध होता है ॥ २०३ ॥ २०४ ॥

विनिवृत्तिर्भवेत्तस्य सम्यग्ज्ञानेन नान्यथा ।
ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं सम्यग् ज्ञानं श्रुतेर्मतम् ॥२०५॥

सम्यक् ज्ञान–समीचीन ज्ञान होनेपर जीवत्वभावकी विशेपरूपसे निवृत्ति होजाती है । विना सम्यक् ज्ञानके नहीं होती एक ब्रह्मही है ब्रह्मके विना कुछ भी नहीं है इसका नाम सम्यक् ज्ञान है ॥ २०५ ॥

तदात्मानात्मनोः सम्यग्विवेकेनैव सिध्यति ।
ततो विवेकः कर्त्तव्यः प्रत्यगात्मसदात्मनोः ।
जलं पङ्कवदत्यन्तं पङ्कापाये जलं स्फुटम् ॥२०६॥

यह ज्ञान आत्म और अनात्म इन दोनोंके सम्यक् विवेकहीसे सिद्ध होता है इसकारण आत्मा और अनात्माका विवेक करके पीछे जीवात्मा परमात्माका विवेक करना चाहिये । जैसे पंकमिश्रित जलमें पानी और कीचके अत्यन्त मिलजानेसे पानी शुद्ध नहीं मिलता किन्तु, जब पंकके नीचे जाता है तो निर्मल जल दीखता है तैसेही सद् असत्के विवेचन किये पीछे जीवात्मा परमात्माका विवेक करनेसे जीवत्वभावके नाश होनेपर केवल शुद्धपरमात्माकाही भान होता है ॥ २०६ ॥

असन्निवृत्तौ तु सदात्मना स्फुटं प्रतीतिरेतस्य भवेत्प्रतीचः । ततो निरासः करणीय एव सदात्मनः साध्वहमादिवस्तुनः ॥ २०७ ॥

जैसे कीचके नीचे बैठ जानेपर स्वच्छ पानी निकल आता है उसीं तरह असत् वस्तुओंके निवृत्त होनेपर इस जीवकी सच्चिदानन्दात्मरूपसे सदा स्पष्ट प्रतीति होती है । इस कारण सदात्मरूपी प्रत्यगात्मासे अहंकार आदि वस्तु सदा दूरही करना उचित है ॥ २०७ ॥

अतो नायं परात्मा स्याद्विज्ञानमयशब्दभाक् ।
विकारित्वाज्जडत्वाच्च परिच्छिन्नत्वहेतुतः ॥
दृश्यत्वाद्व्यभिचारित्वान्नानित्यो नित्य इष्यते २०८

इसके अनात्म होनेका कारण—विज्ञानमयकोश आत्मा नहीं है क्योंकि, विज्ञानमय कोश वृद्धिक्षय आदि विकारसे युक्त है, जड है, आवृत है, दृश्य है, व्यभिचारी अर्थात् एकरूपसे सदा वर्तमान नहीं रहता है और अनित्य है तथा देश आदि हेतुओंसे इसका परिच्छेद हुआ है । पर, आत्मा अविकारी चैतन्य अपरिच्छिन्न द्रष्टा और सर्वथा सर्वत्र एक रूपसे वर्त्तमान है।इस कारण अनित्य विज्ञानमयकोश,नित्यपरमात्मा नहीं हो सकता२०८

आनन्दप्रतिबिम्बचुम्बिततनुर्वृत्तिस्तमोजृम्भिता
स्यादानन्दमयः प्रियादिगुणकः स्वेष्टार्थलाभोदयः ।
पुण्यस्यानुभवे विभाति कृतिनामानन्दरूपः स्वयं
भूत्वानन्दति यत्र साधुतनुभृन्मात्रःप्रयत्नं विना॥२०९

आनन्दमय कोश—आनन्दके प्रतिबिम्बसे चूमेहुए शरीरका यह तमोंगुणकी वृत्तिसे रहित आनन्दमयकोश होता है।उसके प्रेम मोद प्रमोद और आनन्द आदि गुण हैं अपनी इष्टवस्तुओंको लाभसे इसका उदय होता है, पुण्यात्मा मनुष्योंके पुण्यफलके उदय होनेसे चमकता है । वोही बुद्धिकी वृत्ति अन्तर्मुखी हो स्वयं आनन्दस्वरूप होकर प्रसन्न करतीं है । जिस आनन्दस्वरूपमें पवित्रशरीरधारी सन्त महात्मा विना प्रयत्न आनन्दको प्राप्त होते हैं ॥ २०९ ॥

आनन्दमयकोशस्य सुषुप्तौ स्फूर्तिरुत्कटा ।
स्वप्नजागरयोरीषदिष्टसंदर्शनादिना ॥ २१० ॥

सुषुप्ति अवस्थामें आनन्दमयकोशकी समीचीनरीतिसे स्फूर्ति होती है जाग्रत् अवस्था और स्वप्नावस्थामें इष्टवस्तुके दीखनेसे किंचित् आनन्दमयकोशकी स्फूर्ति हो आनन्द होजाता है ॥ २१० ॥

नैवायमानन्दमयः परात्मा सोपाधिकत्वात्प्रकृतेर्विकारात् । कार्य्यत्वहेतोः सुकृतक्रियाया विकारसंघातसमाहितत्वात् ॥ २११ ॥

आनन्दमयकोश आत्मा नहीं—आनन्दमय कोश उपाधिसंयुक्त है, इसकारण प्रकृतिका विकार है परात्मा नहीं हो सकता । सुकृत क्रियाके कार्य जो सुखभोग है वही उसका कारण है । प्रकृतिके विकारसमूहसे संयुक्त है इस कारण आनन्दमयकोश परमात्मा नहीं है, आत्मा तो इन सब हेतुओंसे रहित है ॥ २११ ॥

पञ्चानामपि कोशानां निषेधे युक्तितः श्रुतेः ।
तन्निषेधावधिः साक्षी बोधरूपोऽवशिष्यते ॥ २१२ ॥

युक्तियोंसे और श्रुतियोंसे पंचकोशके निषेध करनेसे यानी उससें आत्माको अलग करनेपर चैतन्यस्वरूप केवल साक्षी परमात्मा अवशेष रहजाता है ॥ २१२ ॥

योऽयमात्मा स्वयंज्योतिः पञ्चकोशविलक्षणः ।
अवस्थात्रयसाक्षी सन्निर्विकारो निरञ्जनः ।
सदानन्दः सविज्ञेयः स्वात्मत्वेन विपश्चिता ॥ २१३ ॥

पञ्चकोशसे विलक्षण स्वयंप्रकाशस्वरूप जो यह आत्मा है वह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंका साक्षी निर्मल निर्विकार सदा आनन्दरूप है । ऐसे आत्माको विद्वान्को अपना आत्मा समझना चाहिये ॥ २१३ ॥

शिष्य उवाच ॥

मिथ्यात्वेन निषिद्धेषु कोशेष्वेतेषु पञ्चसु ।
सर्वाभावं विना किञ्चिन्न पश्याम्यत्र हे गुरो ।
विज्ञेयं किमु वस्त्वस्ति स्वात्मनात्मविपश्चिता २१४

शिष्यका प्रश्न—बडे विनीतभावसे शिष्यका पुनः प्रश्न है कि, हे गुरो ! अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पांचों कोशोंको मिथ्या समझके आत्मरूपसे निषेध होनेके पश्चात् वस्तुमात्रका अभावही दीखता है । दूसरा कुछ नहीं. दीखता तो कौन ऐसी वस्तु है जिनको विद्वान् पुरुष आत्मस्वरूप समझें ॥ २१४ ॥

श्रीगुरुरुवाच ॥

सत्यमुक्तं त्वया विद्वन्निपुणोऽसि विचारणे ।
अहमादिविकारास्ते तदभावोऽयमप्यनु ॥ २१५ ॥

गुरुका उत्तर—शिष्यके प्रश्नकी प्रशंसा करते हुए गुरु बोले कि, हे विद्वन् ! तुमने बहुत अच्छा प्रश्न किया तुम आत्मविचारमें निपुण हो । मैं तुमसे कहता हूं चित्त देकर सुनो । अहंकार आदि जितने विकार हैं, उनका अभावही है पर विकारोंको मिथ्या समझके निषेध करनेके पश्चात् जो कुछ अवशेष रहजाता है वही परमात्मा है यानी जिसके साक्षीमें इनका बाध है वही परमात्मा है ॥ २१५ ॥

सर्वे येनानुभूयन्ते यः स्वयं नानुभूयते ।
तमात्मानं वेदितारं विद्धि बुद्ध्या सुसूक्ष्मया॥२१६॥

अनुभव करनेवाला—सम्पूर्ण अहंकार आदि विकारोंको जो स्वयम् अनुभव करताहै जिसको दूसरा कोई अनुभव नहीं करसकता उन्हींको सूक्ष्मबुद्धिसे सुन्दर सर्वज्ञ परमात्मा जान। "विज्ञातार मरे केन विजानीयात्" ॥

तत्साक्षिकं भवेत्तत्तद्यद्येनानुभूयते ।
कस्याप्यननुभूतार्थे साक्षित्वं नोपयुज्यते ॥ २१७ ॥

साक्षित्वासाक्षित्व विवरण–जिस जिस वस्तुका जो जो अनुभव करता है उस उस वस्तुका वो वो साक्षी होता है,जिस वस्तुका जिसने अनुभवही नहीं कियाहै उस वस्तुकी साक्षिता उसमें कभी युक्त नहीं होसकती२१७

असौ स्वसाक्षिको भावो यतः स्वेनानुभूयते ।
अतः परं स्वयं साक्षात्प्रत्यगात्मा न चेतरः ॥२१८॥

यह आत्मा स्वयं अपने अनुभव आप करता है इस कारण स्वसाक्षिक कहा जाता है इससे दूसरा साक्षात् स्वयं प्रत्यगात्मा नहीं है२१८

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरं योसौ समुज्जृम्भते-
प्रत्यग्रूपतया सदाहमहमित्यन्तः स्फुरन्नैकधा ।
नानाकारविकारभागिन इमापन्श्यन्नहं धीमुखा
नित्यानन्दचिदात्मना स्फुरति तं विद्धि स्वमेतं हृदि॥

जीवात्मा हृदयस्थ बुद्धिमें है–अन्तः करणमें, अहं ऐसी प्रतीतिसे सदा भासता है । जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें जो अत्यन्त स्पष्ट जीवात्मरूपसे उद्यत रहता है अनेक तरहके विकारवाले जो ये बुद्धि आदि हैं उनको उसी रूपसे देखता हुआ नित्यानन्द चैतन्यस्वरूपसे फुरता है । उसी आत्माको हृदयमें जानो ॥ २१९ ॥

घटोदके बिम्बितमर्कबिम्बमालोक्य मूढो रवि-
मेव मन्यते ।तथा चिदाभासमुपाधिसंस्थं भ्रान्त्या-
हमित्येव जडोऽभिमन्यते ॥ २२० ॥

दृष्टान्त–जैसे घडेके जलमें सूर्य्यके प्रतिबिम्बको देखकर मूढजन उसी प्रतिबिम्बको सूर्य्य मानते हैं तैसेही अज्ञानीजन शरीरादि उपाधिमें स्थित हुए चित्के आभासको भ्रान्तिसे ' मैं, यहां हूं ' ऐसा समझताहै ॥ २२० ॥

घटं जलं तद्गतमर्कबिम्बं विहाय सर्वं विनिरीक्ष्य-तेऽर्कः। कूटस्थ एतत्रितयावभासकः स्वयंप्र-काशो विदुषा यथा तथा ॥ २२१ ॥

कूटस्थ–जैसे घट जल व जलमें पडा हुआ सूर्य्यका प्रतिबिम्ब इन सर्वोंको छोड देनेसे इन तीनोंके प्रकाशक एवं इन तीनोंसे निर्लेप स्वयं प्रकाशस्वरूप सूर्य्यको विद्वान् लोग पृथक् देखलेते हैं इसी तरह कूटस्थ सच्चिदानन्द चिदाभास जीव, देहद्वय और बुद्धि इन तीनोंका अव-भासक स्वयंप्रकाश है ॥ २२१ ॥

देहं धियं चित्प्रतिबिम्बमेव विसृज्य बुद्धौ निहितं गुहायाम्। द्रष्टारमात्मानमखण्डबोधं सर्वप्रकाशं सदसद्विलक्षणम् ॥ २२२ ॥ नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्ममन्तर्बहिः शून्यमनन्यमात्मनः। विज्ञाय सम्यङ् निजरूपमेतत्पुमान्विपाप्मा विरजो विमृत्युः ॥ २२३ ॥

मौतसे कब मुक्त होता है–तैसेही देह व बुद्धि व बुद्धिरूप गुहामें पडे हुए चैतन्यके प्रतिबिम्बको छोडकर, सर्वज्ञ सर्वद्रष्टा सबके प्रकाशक स्थूल सूक्ष्म, जगत्से विलक्षण, नित्य, व्यापक, सबके अंतर्गत, सूक्ष्म-रूप, अन्तर बाह्यसे रहित, ' अपनी आत्मासे अभिन्न ' ऐसे आत्म-स्वरूपको अच्छीतरह जानकर मनुष्य, पापसे रहित निर्मल होकर जन्म-मरणसे छूट, मृत्यु रहित होजाता है ॥ २२२ ॥ २२३ ॥

विशोक आनन्दघनो विपश्चित्स्वयंकुतश्चिन्न बिभेति कश्चित्। नान्योऽस्ति पन्था भवबद्धमुक्तेर्विन्यस्व तत्त्वावगमं मुमुक्षो ॥ २२४ ॥

अन्य उपाय नहीं—शोकादि दोषरहित अखण्डानन्दस्वरूप सर्वज्ञ है न कि यह आत्मा। इस आत्माका न अब कोई उत्पादक है एवं न पहिलेही था। अतएव हे मुमुक्षो ! भवबन्धनसे मुक्त होनेका [दूसरा उपाय नहीं है] आत्मतत्त्वके ज्ञानको अपने हृदयमें जमा इसके विना दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ २२४ ॥

ब्रह्माभिन्नत्वविज्ञानं भवमोक्षस्य कारणम् ।
येनाद्वितीयमानन्दं ब्रह्म संपद्यते बुधैः ॥ २२५॥

कैसा ज्ञान मोक्षदायी है—ब्रह्मसे अपनेको अभिन्न अर्थात् मैं ब्रह्म हूं ऐसा ज्ञान होना यहीं भवबन्धसे मुक्त होनेका कारण है। जिस ब्रह्मज्ञानके होनेसे आनन्द स्वरूप अद्वितीय स्वगत सजातीय और विजातीय इन तीनोंके भेदोंसे रहित ब्रह्मको विद्वान् लोग प्राप्त होते हैं॥ २२५ ॥

ब्रह्मभूतस्तु संसृत्यै विद्वान्नावर्त्तते पुनः ।
विज्ञातव्यमतः सम्यग्ब्रह्माभिन्नत्वमात्मनः ॥ २२६ ॥

ब्रह्मस्वरूप होनेपर विद्वान् संसारमें जन्म नहीं पाते इसलिये समीचीन रीतिसे विद्वानोंको अपनेको ब्रह्मस्वरूप समझलेना चाहिये॥२२६॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म विशुद्धं परं स्वतः सिद्धम् ।
नित्यानन्दैकरसं प्रत्यगभिन्नं निरन्तरं जयति२२७॥

ब्रह्मका लक्षण—अबाधित सत्तास्वरूप, स्वप्रकाश और देश काल और वस्तुके परिच्छेदसे रहित अनन्त, विशुद्ध, स्वतःसिद्ध सदा आनन्दस्वरूप सदा एक आनन्द रसवाला परब्रह्म निरन्तर विजयको प्राप्त हो जो कि, जीवसे भिन्न नहीं है ॥ २२७ ॥

सदिदं परमाद्वैतं स्वस्मादन्यस्य वस्तुनोऽभावात् । न ह्यन्यदस्ति किञ्चित्सम्यक् परमार्थतत्त्वबोधदशायाम् ॥ २२८ ॥

सब ब्रह्महीहै—आत्मतत्त्वबोधकी दशामें ब्रह्मसे भिन्न सब वस्तुओंके अभाव होनेके बाद अद्वितीय परब्रह्महीं सम्यक् दीखता है ब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं दीखता क्योंकि, जैसे सृष्टिके पहिले नहीं अन्तमें नहीं तब अबही कैसे होगा आदि अन्तकी तरह यह ब्रह्मही है ॥ २२८ ॥

यदिदं सकलं विश्वं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात्।
तत्सर्वं ब्रह्मैव प्रत्यक्ताशेषभावनादोषम् ॥ २२९ ॥

जो यह सब संसार अज्ञानसे अनेकरूप प्रतीत होरहा है यह ज्ञानदशामें, संपूर्ण भावनादोषसे रहित केवल ब्रह्मस्वरूपही दीखता है॥२२९॥

मृत्कार्य्यभूतोऽपि मृदो न भिन्नः कुम्भोऽस्ति सर्वत्र तु मृत्स्वरूपात्। न कुम्भरूपं पृथगस्ति कुम्भः कुतो मृषाकल्पितनाममात्रः ॥ २३० ॥

कार्य कारणसे भिन्न नहीं—यद्यपि मृत्तिकाका कार्य्यभूत घट है यानी मृत्तिकासे बना हुआ है परंतु मृत्तिकासे भिन्न नहीं है क्योंकि, सर्वत्र मृत्स्वरूपही दीखता है। घटका रूप भी घटसे अलग नहीं है। मिथ्याकल्पित नाममात्रही घट किया है वास्तवमें मृत्तिकाही है ॥ २३० ॥

केनापि मृद्भिन्नतया स्वरूपं घटस्य संदर्शयितुं न शक्यते। अतो घटः कल्पित एव मोहात्मृदेव सत्या परमार्थभूता ॥२३१॥

मृत्तिकासे भिन्न घटका स्वरूप कोई भी पुरुष नहीं दिखा सकता है इसलिये घट और घटका रूप ये सब मोह कल्पित हैं "मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इति श्रुतिः। परमार्थरूपसे तो मृत्तिकाही सत्य है ॥२३१॥

सद्ब्रह्मकार्य्यं सकलं सदैव तन्मात्रमेतन्न ततोऽन्यदस्ति। अस्तीति यो वक्ति न तस्य मोहो विनिर्गतो निद्रितवत्प्रजल्पः ॥ २३२ ॥

५

ब्रह्मका कार्य ब्रह्मही है--इसीतरह सत्यस्वरूप ब्रह्मसे उत्पन्न यह सकल जगत् भी सत्यही है क्योंकि, ब्रह्मसे भिन्न दूसरा कुछ नहीं है जो कोई कहे कि, ब्रह्मसेभी भिन्न कोई वस्तु है उसको समझे कि, इसका अभी मोह नहीं गया निद्रित मनुष्यकी तरह इसका मिथ्या बकना है॥२३२॥

ब्रह्मैवेदं विश्वमित्येव वाणी श्रौती ब्रूतेऽथर्वनिष्ठा वरिष्ठा । तस्मादेतद्ब्रह्ममात्रं हि विश्वं नाधिष्ठाना-द्भिन्नतारोपितस्य ॥ २३३ ॥

प्रमाण और दृष्टांत--सबसे श्रेष्ठ जो अथर्व वेदके मुण्डकोपनिषद् ३-१-११वी श्रुतिकी वाणी कहती है कि, सम्पूर्ण विश्व ब्रह्ममय है इस कारण यह विश्व केवल ब्रह्मही है उससे भिन्न नहीं है। जैसे कि रज्जुमें जो सर्पका आरोप होता है वह आरोपित सर्प रज्जुसे भिन्न नहीं है तैसेही ब्रह्ममें जो अज्ञानसे संसारका आरोप हो रहा है यह आरोपित संसारभी ब्रह्मसे भिन्न नहीं है ॥ २३३ ॥

सत्यं यदि स्याज्जगदेतदात्मना न तत्त्वहानिर्निग-माप्रमाणता । असत्यवादित्वमपीशितुः स्यान्नै-तत्त्रयं साधु हितं महात्मनाम् ॥ २३४ ॥

जगत्को सत्य माननेमें दोष--यह दृश्य जगत् यदि अपने स्वरूपसे सत्य हो तो आत्मतत्त्वकी कुछ हानि न होगी किन्तु जगत्को अनित्य प्रतिपादन करनेवाले वेदकी अप्रामाण्यता होगी, एवं जगत्को अनित्य कहनेवाले ईश्वरभी मिथ्यावादी होंगे। जगत्का सत्य होना, वेदका अप्रामाण्य होना, ईश्वरका मिथ्यावादी होना, ये तीनों बात किसी महात्माको अभीष्ट नहीं है, इस कारण जगत्को अनित्यही मानना युक्तहै२३४

ईश्वरो वस्तुतत्त्वज्ञो न चाहं तेष्ववस्थितः ।
न च मत्स्थानि भूतानीत्येव मेव व्यचीक्लृपत् २३५

ईश्वर सर्वज्ञ है हम नहीं—यथार्थवस्तुका ज्ञाता ईश्वरही है हमलोग नहीं हैं। हमारेमें स्थित सब भूत नहीं किन्तु हमहीं भूतोंमें अवस्थित हैं ऐसीही कल्पना योग्य है॥ २३५॥

यदि सत्यं भवेद्विश्वं सुषुप्तावुपलभ्यताम्।
यन्नोपलभ्यते किञ्चिदतोऽसत्स्वप्नवन्मृषा॥ २३६॥

असत्य होनेमें कारण—यदि यह विश्व सत्य है तो सुषुप्तिकालमें भी इसकी उपलब्धि होनी चाहिये जब कि, सुषुप्तिमें जगत्की उपलब्धि नहीं होती है, तो समझना चाहिये कि, जगत् अनित्य है और स्वप्नवत् मिथ्या है॥ २३६॥

अतः पृथङ्नास्ति जगत्परात्मनःपृथक् प्रतीतिस्तु मृषा गुणादिवत्। आरोपितस्यास्तिकिमर्थवत्ताऽधिष्ठानमाभाति तथाभ्रमेण॥ २३७॥

आरोपित सत्य नहीं—जैसे घटका रूप घटसे पृथक् नहीं है तैसेही परमात्मासे पृथक् यह जगत् भी नहीं है पृथक् जो प्रतीत होता है वह भ्रममात्र है। क्योंकि, भ्रमसे शुक्तिमें जो रजतका आरोप होता है वह आरोपित रजतकी स्थिति, शुक्तिकी स्थितिसे अलग नहीं दीखती किंतु शुक्तिरूपही है तैसेही ब्रह्ममें जगत्की प्रतीति भी ब्रह्मस्वरूपहीहै २३७

भ्रान्तस्य यद्यद्भ्रमतः प्रतीतं ब्रह्मैव तत्तद्रजतं हि शुक्तिः। इदं तथा ब्रह्म सदैव रूप्यते त्वारोपितं ब्रह्मणि नाममात्रम्॥ २३८॥

भ्रान्तपुरुषेक भ्रमसे जो जो वस्तु प्रतीत होती है वो २ सब ब्रह्मरूपही है जैसे कि, शुक्तिमें जो रजत प्रतीत होता है वो रजत, शुक्तिस्वरूपही है इसी प्रकार सद्ब्रह्महही जगत्रूपसे निरूपित होते हैं अत एव ब्रह्ममें जो नाना प्रकारका आरोप है वो केवल नाममात्रहीसे भिन्न है वास्तवमें नहीं है॥ २३८॥

अतः परं ब्रह्म सदद्वितीयं विशुद्धविज्ञानघनं निरञ्जनम् । प्रशान्तमाद्यन्तविहीनमक्रियं निरन्तरानन्दरसस्वरूपम् ॥२३९॥ निरस्तमायाकृतसर्वभेदं नित्यं सुखं निष्कलमप्रमेयम् । अरूपमव्यक्तमनाख्यमव्ययं ज्योतिः स्वयं किञ्चिदिदं चकास्ति२४०

सर्वत्र ब्रह्मही है-इसलिये जो कुछ यह दृश्य जगत् है यह सब सत्य अद्वितीय, विशुद्ध, विज्ञानघन, निर्मल, प्रशान्त, आदि अन्तसे हीन, क्रियारहित, सदा आनन्द रसस्वरूप, मायाकृत सब भेदोंसे अतिरिक्त, नित्य, सुखस्वरूप, निष्कल, अप्रमेय, रूपरहित, अव्यक्त, नाशरहित स्वयंप्रकाश, ज्योतिःस्वरूप परब्रह्मही प्रकाशितहै ॥ २३९ ॥ २४० ॥

ज्ञातृज्ञेयज्ञानशून्यमनन्तं निर्विल्पकम् ।
केवलाखण्डचिन्मात्रं परं तत्त्वं विदुर्बुधाः ॥ २४१ ॥

परतत्त्व कैसा है-विज्ञानमय ज्ञाता मनोमय ज्ञान और शब्दादिक ज्ञेय इस त्रिपुटि तीनोंसे शून्य, निर्विकल्प, केवल, अखण्ड, चैतन्यस्वरूप, परमात्मतत्त्वको विद्वान् लोगही जानते हैं जैसे घट है तो उस घटका ज्ञाता मनुष्य होता है और उस घटका ज्ञान मनुष्यमें रहता है। जब कि, घट विषयही नहीं तो घटविषयका ज्ञानभी नहीं है एवम् । घटका ज्ञाता वह मनुष्यभी नहीं हो सकता । तैसेही आत्मासे अतिरिक्त जब कोई पदार्थही नहीं तो विज्ञानमय किस वस्तुका ज्ञाता होगा और कौन वस्तुका ज्ञान इसमें रहेगा इसी कारण आत्मा ज्ञातृज्ञेय ज्ञान इन तीनोसें रहितहै२४१

अहेयमनुपादेयं मनोवाचामगोचरम् ।
अप्रमेयमनाद्यन्तं ब्रह्म पूर्णमहं महः ॥ २४२ ॥

त्याज्य, ग्राह्यसे रहित, मन और वचनका अविषय, अप्रमेय, आदि अन्त हीन, परिपूर्ण तेजःपुंज ब्रह्म मैं ही हूँ, ज्ञानी पुरुषको अपनेको ऐसा समझना चाहिये ॥ २४२ ॥

तत्त्वंपदाभ्यामनधीयमानयोर्ब्रह्मात्मनोः शोधि- तयोर्यदीत्थम्। श्रुत्या तयोस्तत्त्वमसीति सम्यगे- कत्वमेव प्रतिपाद्यते मुहुः ॥ २४३ ॥

जीवब्रह्मकी एकता तथा 'तत्त्वमसि' का विवेचन—छा० छठे प्रपाठकमें आठवें खण्डसे लेकर सोलहवें खण्डतक ९ जगह "तत्त्वमसि" यह आया है इस वाक्यको वेदोपनिषदोंके चार महावाक्योंमें सर्व-प्रधान मानकर रखा है, इन श्लोकोंमें श्रीशंकराचार्यजीभी इसे कहते हैं। इसमें तीन पद हैं एक तत्, दूसरा त्वम् और तीसरा असि। तत्—जो तामसी मायको उपाधिरूपसे स्वीकार करके संसारका उपादान तथा शुद्ध सत्त्ववालीको उपाधिरूपसे स्वीकार करके निमित्त कारण बना है, यह तत् पदका अर्थ है। त्वम्—काम कर्म आदिसे दूषित मलिनसत्त्व-वाली अविद्याको उपाधिरूपसे स्वीकार करनेवाला ब्रह्म, यह इस 'त्वम्'पदका अर्थ है। असि—दोनोंकी एकताका ग्रहण करानेवाला है। क्यों कि, विना एकताके त्वम्पदवाक्य जीव तत्पदवाच्य ब्रह्म नहीं बन सकता। इस कारण इन दोनोंकी एकता होनी अवश्य है वो विना भागत्यागलक्षणाके नहीं हो सकती। यानी तामसी शुद्धसत्त्वा और मलिनसत्त्वा इन तीनों प्रकारोंकी मायाके त्याग करदेनेपर दोनोंही एक हैं दोनोंका एकही स्वरूप है अर्थात् परब्रह्म और जीव दोनोंकी माया और अविद्यारूप उपाधिको छोडनेपर अखण्ड सच्चि-दानन्दही लक्षित होता है। जैसे वो सृष्टिसे पहिले पीछे एक दीखता है उसीतरह सृष्टिदशामेंभी वो एक है अतः जीव और ब्रह्म दोनों एकहैं।

श्लोकका अर्थ—तत् और त्वम् पदसे वाच्यरूपसे नहीं कहे गये जो शोधित जीव और परमेश्वर हैं। उन दोनोंका अभी दिखाई गई रीतिके अनुसार भागत्यागलक्षणासे 'तत्त्वमसि' इस श्रुतिसे भलीभांति वारंवार एकत्त्वप्रतिपादन किया गया है ॥ २४३ ॥

ऐक्यं तयोर्लक्षितयोर्न वाच्ययोर्निगद्यतेऽन्योन्यविरुद्धधर्म्मिणोः । खद्योतभान्वोरिव राजभृत्ययोः कूपाम्बुराश्योः परमाणुमेर्वोः ॥ २४४ ॥

ऐक्य लक्षितोंका है वाच्योंका नहीं—खद्योत और सूर्य्य, राजा और नौकर एवम् कूआ और समुद्र तथा परिमाणु और मेरुकी तरह विरुद्ध धर्मवाले त्वम् और तत् पदसे कहेगये जीवात्मा और परमात्माका ऐक्य नहीं कहा है, किन्तु ' तत्त्वमसि ' इस महावाक्यसे भागत्यागलक्षणाद्वारा लक्षित जो उभयत्र अखण्डानन्द परमात्मा है उसीका ऐक्यप्रतिपादन किया है । त्वम्पदवाच्य जीवात्माका, तत्पदवाच्य परमात्माके साथ तो वैसाही अन्तर है जैसा कि, खद्योतका सूर्यसे, राजाका नौकरसे, कूएका समुद्रसे एवम् परमाणुका मेरुके साथ है । जैसे खद्योत आदिसे सूर्य आदि विरुद्ध धर्मवाले हैं उसी तरह ये जीव और परमात्मा आपसमें विरुद्ध धर्मवाले हैं ॥ २४४ ॥

तयोर्विरोधोऽयमुपाधिकल्पितो न वास्तवः कश्चिदुपाधिरेषः। ईशस्य माया महदादिकारणं जीवस्य कार्य्यं शृणु पञ्चकोशम् ॥ २४५ ॥

उपाधिसे विरोध है—उन दोनोंका यह विरोध अविद्या और मायारूप उपाधिसे किया हुआ है वास्तवमें नहीं है क्योंकि, कोई भी उपाधि वास्तविक नहीं होती । ईश्वरकी माया उपाधि है जो महत् आदिका कारण है एवं जीवकी पंचकोश उपाधि है । हे शिष्य ! सावधानीके साथ सुन । [इसमें भी अविद्या प्रधान है] ॥ २४५ ॥

ॐ

एतावुपाधी परजीवयोस्तयोः सम्यङ्निरासे न परो न जीवः । राज्यं नरेन्द्रस्य भटस्य खेटकस्तयोरपोहे न भटो न राजा ॥ २४६ ॥

उपाधिके विना दोनोंही नहीं है—माया और अविद्या पंचकोश आदिं जो परमात्मा और जीवात्माकी उपाधि हैं इन दोनों उपाधियोंका सम्यक् निरास होनेसे न परमात्मा रहेगा न अलग जीवात्माही रहेगा; जैसें राज्य करनेसे राजा कहा जाता है। वही सिकारमें जानेसे वीर कहा जाता है। इन दोनों उपाधियोंके छोड देनेपर न राजा कहा जायगा एवं न वीरही कहा जायगा, एक मनुष्यकीही आकृति दीखेगी। तैसेही उपाधिके नष्ट होनेसे एकही शुद्ध चैतन्य शेष रहेगा ॥ २४६ ॥

अथात आदेश इति श्रुतिः स्वयं निषेधति ब्रह्मणि कल्पितं द्वयम्। श्रुतिप्रमाणानुगृहीतबोधात्तयो- र्निरासः करणीय एवम् ॥ २४७ ॥

श्रुतिप्रमाण—परब्रह्ममें जो द्वैत भावना होरही है उस द्वैतभावनाकों, "तस्य एप आदेशो नेति नेति" बृ. २-३-६. अर्थात् अथ—सत्यके स्वरूपके निर्देशके पीछे, अतः—जो सत्यका सत्य है वही बाकी रहजाता है इस कारण, सत्य ब्रह्मका, आदेशः—निर्देश करते हैं वो, न इति, न इति है। यानी प्रकृत एतावत्त्वका निषेध करके उससेभी अधिक कह- नाही उसका उपदेश है इत्यादि श्रुति साक्षात् दोनोंका निषेध करतीं है। ऐसी श्रुतियोंके प्रमाणोंसे बोध सम्पादन करके उक्तरीतिसे द्वैतका निरास ही करना चाहिये ॥ २४७ ॥

नेदं नेदं कल्पितत्वान्न सत्यं रज्जुदृष्टो व्यालव- त्स्वप्नवच्च। इत्थं दृश्यं साधुयुक्त्या व्यपोह्य ज्ञेयः पश्चादेकभावस्तयोर्यः ॥ २४८ ॥

कल्पित, सत्य नहीं होता—रज्जुमेंका देखा सर्प और स्वप्नावस्थाके देखे नाना पदार्थ सत्य नहीं हैं तैसेही अज्ञानपरिकल्पित यह जगत्भीं सत्य नहीं है ऐसा, समीचीन युक्तियोंसे दृश्य जगत्का निषेध करके पश्चात् जीवात्मा परमात्माका जो आपसमें एकत्वभाव है वही शुद्ध आनन्दरूप परब्रह्म है ॥ २४८ ॥

ततस्तु तौ लक्षणया सुलक्ष्यौ तयोरखण्डैकरसत्वसिद्धये । नालं जहत्या न तथाऽजहत्या किन्तूभयार्थात्मिकयैव भाव्यम् ॥ २४९ ॥

भागत्यागलक्षणा—जीवात्मा और परमात्माके अखण्ड एकरसत्व सिद्ध होनेके लिये महावाक्यमें भागत्यागलक्षणा करना । इसी लक्षणासे परमात्मा लक्षित होता है । इसीका नाम जहदजहत् लक्षणाभी है । यहां केवल जहत्लक्षणा अथवा अजहतलक्षणा नहीं होती क्योंकि, साहित्यिक जिसे लक्षणलक्षणा कहते हैं उसीको वेदान्ती 'जहत्स्वार्था' कहते हैं । यह वाक्यार्थमें परका अन्वय हो जाय इस कारण अपनेको समर्पित करदें ऐसे स्थलमें होती है । जैसे—कोई कहता है कि, गंगामें ग्राम है यह वाक्य सुनकर श्रोताने विचार किया कि, गंगापदका प्रवाह अर्थ है तो प्रवाहमें ग्राम होना असंभव है इसलिये गंगापदका जो मुख्य अर्थ प्रवाह है उसको बाधकर उसके योगी तीरमें लक्षण होती है । साहित्यिकोंकी उपादान लक्षणाको भी 'अजहत् स्वार्था' कहते हैं । यह मुख्यार्थका वाक्यार्थमें अन्वय होजाय, इस कारण तद्युक्तका आक्षेप तथा जिसकी लक्षणा कीगई उसका तद्युक्तमें ग्रहण होना हो ऐसी जगह होती है जैसे कि कोई कहता है कि, श्वेत दौडता है यह वाक्य सुनकर श्वेत गुणका दौडना असम्भव है इसलिये श्वेत गुणसंयुक्त पुरुषमें लक्षणा होती है । 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यमें तो चैतन्यब्रह्मरूप अर्थ, तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ दोनोंमें वर्त्तमान रहता है और सर्वज्ञत्व आत्मज्ञत्व आदि विरुद्ध भागका त्याग दोनोंसे होता है । इसलिये जहदजहल्लक्षणा यहां जानना ॥ २४९ ॥

स देवदत्तोऽयमितीह चैकता विरुद्धधर्म्मांशमपास्य कथ्यते । यथा यथा तत्त्वमसीति वाक्ये विरुद्धधर्मानुभयत्र हित्वा ॥ २५० ॥

दृष्टान्त—जैसे वही यह देवदत्त है जो सुभ्रममें देखा था इस वाक्यमें तत्कालीन और एतत्कालीनरूप विरुद्धधर्मका त्यागकर देनेपर एकही देवदत्तका बोध होता है। तैसे ही 'तत्त्वमसि' इस वाक्यमें उक्तरीतिसे दोनों पदार्थोंमेंसे शुद्धसत्त्वा मलिनसत्त्वा और अविद्या रूप विद्धरुधर्मका दोनों पदार्थोंमेंसे त्याग करनेसे दोनोमें एकता हो जाती है। एक अखण्डानन्द ही बाकी रहजाता है ॥ २५० ॥

संलक्ष्य चिन्मात्रतया सदात्मनोरखण्डभावः परिचीयते बुधैः। एवं महावाक्यशतेन कथ्यते ब्रह्मात्मनोरैक्यमखण्डभावः ॥ २५१ ॥

दार्ष्टान्तसाम्य—जीवात्मा और परमात्मा इन दोनोंमेंसे विरुद्ध अंशके त्यागदेनेपर दोनों ही नित्य आत्माओंका विद्वान् लोक चिन्मात्ररूपसे अखण्डभाव एकत्व एवम् निश्चय करते हैं। इसी तरह सैकडों महावाक्य जीवात्मा परमात्माके एकत्व अखण्डभावको स्पष्ट कहते हैं ॥ २५१ ॥

अस्थूलमित्येतदसन्निरस्य सिद्धं स्वतो व्योमवदप्रतर्क्यम्। अतो मृषामात्रमिदं प्रतीतं जहीहि यत्स्वात्मतया गृहीतम्। ब्रह्माहमित्येव विशुद्धबुद्ध्या विद्धि स्वमात्मानमखण्डबोधम् ॥ २५२ ॥

"अस्थूल मनण्व ह्रस्व मदीर्घ मलोहित मस्नेहम्" इस बृ० ३-८-८ श्रुतिसे अनित्यस्थूल आदि पदार्थोंके निरास करनेसे आकाशसदृश व्यापक तर्करहित चैतन्य सिद्ध होता है इसलिये आत्मरूपसे गृहीत जो मिथ्या प्रतीतिमात्र देहादि वस्तुमें आत्मबुद्धि होरही है उस बुद्धिको त्याग करो और मैं ब्रह्म हूं ऐसे विशुद्धबुद्धिसे अपनेको अखण्डबोधरूप चैतन्य आत्मा समझो ॥ २५२ ॥

मृत्कार्य्यं सकलं घटादि सततं मृन्मात्रमेवाहितं तद्वत्सज्जनितं सदात्मकमिदं सन्मात्रमेवाखिलम्।

यस्मान्नास्ति सतः परं किमपि तत्सत्यं स आत्मा स्वयं तस्मात्तत्त्वमसि प्रशान्तममलं ब्रह्माद्वयं यत्परम् ॥ २५३ ॥

तत्त्वमसिका निर्वचन–जैसे सम्पूर्ण घटादि मृत्तिकाके ही कार्य्य हैं घटके नाश होनेसे सर्वथा मृत्तिकाही वर्तमान रहती है इसतरह सत्से उत्पन्न यह जगत् सदात्मक है जिस सत्से अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है वह सत्स्वरूप साक्षात् आत्मा है । इस कारण वही प्रशांत निर्मल अद्वितीय परब्रह्म तुम हो ॥ २५३ ॥

निद्राकल्पितदेशकालविषयज्ञात्रादि सर्वं यथा मिथ्या तद्वदिहापि जाग्रति जगत्स्वाज्ञानकार्य्यं त्वतः । यस्मादेवमिदं शरीरकरणप्राणाहमाद्यप्यसत्तस्मा-त्तत्त्वमसि प्रशान्तममलं ब्रह्माद्वयं यत्परम् ॥ २५४ ॥

जैसे निद्रा (स्वप्न) के कल्पित देश, काल, सम्पूर्ण विषय, ज्ञाता, ज्ञान आदि सब मिथ्या हैं, तैसेही जाग्रत् अवस्थामें अपनी अज्ञानतासे कल्पित यह जगत् मिथ्या है, इसी तरह यह शरीर और इन्द्रियगण प्राण और अहंकार आदि सब मिथ्या हैं । जब ये सब मिथ्या हुए तो वही शान्तस्वरूप निर्मल अद्वितीय परब्रह्म तुम हो ॥ २५४ ॥

जातिनीतिकुलगोत्रदूरगं नामरूपगुणदोषवर्जितम् । देशकालविषयातिवर्त्ति यद्ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि॥

ब्राह्मण आदि जाति, ऐसा करना ऐसा न करना यह नीति, कुल, गोत्र इन सबसे रहित तथा नाम रूप गुण दोष इन सबसे वर्जित, देश काल विषय आदिसे अलग, जो परब्रह्म है, वही ब्रह्म तुम हो उसी ब्रह्मकी अपने आत्मामें भावना करो ॥ २५५ ॥

यत्परं सकलवागगोचरं गोचरं विमलबोधचक्षुषः । शुद्धचिद्घनमनादि वस्तु यद्ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि॥

सकल राग जिसके कारण जाने जा रहे हैं जिसे निर्मल बोधवाले अपनी दिव्यदृष्टिका विपयसा वना रहे हैं ऐसे शुद्ध चिद्धन सव और से अज्ञा नही अज्ञा अनादि वस्तु जो परब्रह्म है वही ब्रह्म तुम हो ऐसा अपनेको अपनेमें विचार किया करो ॥ २५६ ॥

षड्भिरूर्मिभिरयोगियोगिहृद्भावितं न करणैर्विभावितम् । बुद्ध्यवेद्यमनवद्यमस्ति यद्ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २५७ ॥

पट् संपत्तिके वेगसे योगियोंके हृदयमें प्रकाशित तथा राग द्वेप आदि छः ऊर्मियोंसहित अयोगियोंके हृदयसे अविचारित है नेत्र आदि इन्द्रियोंका विपय नही है बुद्धिकाभी अविपय है ऐसा जो परब्रह्म है वह तुम्हीं हो और ऐसीही अपनेमें भावना करो ॥ २५७ ॥

भ्रान्तिकल्पितजगत्कलाश्रयं स्वाश्रयं च सदसद्विलक्षणम् । निष्कलं निरुपमानबुद्धि यद्ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २५८ ॥

भ्रान्तिसे कल्पित जो जगत् उसका आधार और आत्मभिन्न आधारसे रहित स्थूल सूक्ष्म जगतसे विलक्षण निष्कलंक उपमानसे रहित जो परब्रह्म वो तुम्हीं हो ऐसा अपनेको मानो ॥ २५८ ॥

जन्मवृद्धिपरिणत्यपक्षयव्याधिनाशनविहीनमव्ययम् । विश्वसृष्ट्यवविघातकारणं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २५९ ॥

अव्यय यानी जन्म, वृद्धि, परिणति, ह्रास व्याधि, नाश इन सवसें विहीन, सदा एक रस, संसारके सृष्टि, स्थिति और विनाशका कारण जो परब्रह्म है सो तुम्ही हो, ऐसीही अपने आत्मामें भावना करो॥२५९.

अस्तभेदमनपास्तलक्षणं निस्तरंगजलराशिनिश्चलम् । नित्यमुक्तमविभक्तमूर्त्ति यद्ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २६० ॥

भेदसे रहित एवं लाक्षणिक तरंगरहित जलराशिके समान निश्चल नित्यमुक्त और विभागसे रहित, सदा एक मूर्त्ति जो परब्रह्म है वो तुम्ही हो ऐसीही अपनी आत्मामें भावना करो ॥ २६० ॥

एकमेव सदनेककारणं कारणान्तरनिरास्यकारणम् । कार्य्यकारणविलक्षणं स्वयं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २६१ ॥

स्वयं एकही होकर अनन्तानन्त जगतोंका कारण है वहभी दूसरे कारणोंके परास्त करके कारण है यानी वो ही परम कारण है किन्तु स्वयम् कार्य्य कारणसे विलक्षण जो स्वयं ब्रह्म है वो तुम्ही हो ॥२६१॥

निर्विकल्पकमनल्पमक्षरं यत् क्षराक्षरविलक्षणं परम् । नित्यमव्ययसुखं निरञ्जनं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयत्मानि ॥ २६२ ॥

नाम रूपके विकल्पसे रहित, सर्वव्यापक, नाशरहित, देह और मायासे परम विलक्षण, नित्य, अव्यय, सुखस्वरूप, निर्मल जो परब्रह्म है वो तुम्ही हो ॥ २६२ ॥

यद्विभाति सदनेकधा भ्रमन्नामरूपगुणविक्रियात्मना । हेमवत्स्वयमविक्रियं सदा ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २६३ ॥

जो परब्रह्म सोनेकी तरह सदा स्वयं द्रव्यरूपसे विकाररहित एक है तथापि भ्रमसे नाम, रूप और गुणरूपी विकारसे सत् अनन्तानन्त मालूम होता है वह ब्रह्म तुम्हीं हो ॥ २६३ ॥

यच्चकास्त्यनपरं परात्परं प्रत्यगेकरसमात्मलक्ष-णम्। सत्यचित्सुखमनन्तमव्ययं ब्रह्म तत्त्वमसि भावयात्मनि ॥ २६४ ॥

प्रकृति आदिसे परे प्रत्यक्ष एकरस आत्मस्वरूप सत्य चित्स्वरूप सुखात्मक अनन्त अव्यय जो परब्रह्म वो तुम्हीं हो ॥ २६४ ॥

उक्तमर्थमिममात्मनि स्वयं भावयेत्प्रथितयुक्तिभिर्धिया। संशयादिरहितं कराम्बुवत्तेन तत्त्व-निगमो भविष्यति ॥ २६५ ॥

इसी भावनासे तत्त्वज्ञान होगा—पूर्वोक्त अर्थकी प्रसिद्ध युक्तियोंद्वारा बुद्धिसे अपनेमें आत्मभावना करे। ऐसा विचारनेसे संशय रहित होनेपर हस्तगत जल आदिके सदृश आत्मवस्तुका साक्षात् बोध होता है॥२६५॥

संबोधमात्रं परिशुद्धतत्त्वं विज्ञाय संघे नृपवच्च सैन्ये। तदाश्रयः स्वात्मनि सर्वदा स्थितो विला-पय ब्रह्मणि विश्वजातम् ॥ २६६ ॥

जैसे सैन्यके मध्यमें सर्वोपरि विराजमान, एक राजा होता है तैसेही संसारसमूहमें परिशुद्ध सम्यक् बोधमात्र आत्मतत्त्वको जान। उसी आत्मतत्त्वके आश्रित होकर आत्मामें सदा स्थित रह इसी तरह जाय-मान सम्पूर्ण विश्वको ब्रह्महीमें विलीन करदे ॥ २६६ ॥

बुद्धौ गुहायां सदसद्विलक्षणं ब्रह्मास्ति सत्यं पर-मद्वितीयम्। तदात्मना योऽत्र वसेद्गुहायां पुनर्न तस्याङ्ग गुहाप्रवेशः ॥ २६७ ॥

फिर जन्म नहीं होता—बुद्धिरूप कन्दरामें सत् असत्से विलक्षण सत्य अद्वितीय जो परब्रह्म है उन्हीं परब्रह्मका रूप होकर जो मनुष्य बुद्धि-

रूप कंदरामें वास करेगा। हे प्रिय! उस मनुष्यका फिर उस कन्दरामें प्रवेश यानी फिर जन्म न होगा॥ २६७॥

ॐ॥ ज्ञाते वस्तुन्यपि बलवती वासनानादिरेषा कर्त्ता भोक्ताप्यहमिति दृढा यास्य संसारहेतुः। प्रत्यग्-दृष्ट्यात्मनि निवसता सापनेया प्रयत्नान्मुक्तिं प्राहुस्तदिह मुनयो वासनातानवं यत्॥ २६८॥

वासना नाशही मोक्ष है—आत्मवस्तुके जाननेपरभी हम कर्त्ता हैं, हम भोक्ता हैं, ऐसी प्रबल अनादि दृढ वासनाका जबतक त्याग नहीं हुआ तबतक फिर संसार भोग करना पडता है क्योंकि, जीवके संसार प्राप्त होनेमे प्रबल वासनाही कारण है, इसकारण प्रत्यक्दृष्टिसे आत्मामें निवास करनेवाले मनुष्योंको उचित है कि, प्रयत्नके साथ वासनाओंका त्याग करे क्योंकि, वासनाका क्षीण होना यही मोक्ष है ऐसा आचार्य्योंका मत है॥ २६८॥

अहं ममेति यो भावो देहात्मादावनात्मनि।
अध्यासोऽयं निरस्तव्यो विदुषा स्वात्मनिष्ठया॥२६९

अध्यासका रूप—देह और नेत्र आदि इन्द्रिय जितने अनात्म वस्तु हैं उनमें जो अहं मम ऐसी भावनाएं हुई हैं यही अध्यास है। इसे विद्वान्को आत्मनिष्ठासे अवश्य निरस्त करना चाहिये॥ २६९॥

ज्ञात्वा स्वं प्रत्यगात्मानं बुद्धितो वृत्तिसाक्षिणम्।
सोऽहमित्येव सद्वृत्त्या नात्मन्यात्ममतिं जहि २७०

इसका त्याग—बुद्धिकी वृत्तियोंके साक्षी अपने प्रत्यक् जीवात्माको सात्त्विक बुद्धिसे जानकर, वही ब्रह्म मैं हूँ ऐसी सद्वृत्तिसे देह आदि अनात्म वस्तुओंमें जो आत्मबुद्धि फैली है, उसका त्याग करो २७०

लोकानुवर्त्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्त्तनम्।
शास्त्रानुवर्त्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु॥२७१॥

इसमें वासनात्रयका त्याग पहिले हो–लोकवासनाको और देहवासनाकों और शास्त्रवासनाको छोडकर आत्मामें जो संसारका अध्यास है उसका त्याग करो ॥ २७१ ॥

लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयापि च।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥ २७२ ॥

लोकवासनाका कार्य–लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासना इन तीनों वासनाओंके रहनेसे मनुष्यको यथावत् ज्ञान नहीं होता ॥ २७२॥

संसारकारागृहमोक्षमिच्छोरयोमयं पादनिबन्धशृंखलम् । वदन्ति तज्ज्ञाः पटुवासनात्रयं योऽस्माद्विमुक्तः समुपैति मुक्तिम् ॥ २७३ ॥

तीनों वासनाएं सांकल हैं–संसाररूप कारागारसे मुक्त होनेकी इच्छा करनेवाले मनुष्योंके पैर बांधनेके लिये लोकवासना, शास्त्रवासना, देहवासना ये तीनों वासना लोहेकी प्रबल शृंखलाएं हैं इनसे जो मनुष्य मुक्त होता है वही मोक्षभागी होता है ॥ २७३ ॥

जलादिसम्पर्कवशात्प्रभूतदुर्गन्धधूतागरुदिव्यवासना। संघर्षणेनैव विभाति सम्यग्विधूयमाने सति वाह्यगन्धे ॥ २७४ ॥

दृष्टान्तपूर्वक आत्मवासनाका प्राकट्य–जैसे अगरु आदि दिव्य गन्ध युक्त काष्ठका जल आदि अन्य वस्तुओंके साथ अधिक संसर्ग होनेसे उन अन्य वस्तुओंका दुर्गन्ध चन्दनकाष्ठमें मिलजाता है। वादमें उस वाह्य दुर्गंधको अच्छी तरह धोकर चन्दनके घिसनेपर सुन्दर गन्ध निकलता है ॥ २७४ ॥

अन्तःश्रितानन्तदुरन्तवासनाधूलीविलिप्ता परमात्मवासना। प्रज्ञातिसंघर्षणतो विशुद्धा प्रतीयते चन्दनगन्धवत्स्फुटम् ॥ २७५ ॥

अन्तःकरणमें विराजी हुई अनन्त दुर्वासनारूप धूलीसे परमात्मा संबन्धी वासनाएं ढकी हुई हैं पर बुद्धिके अत्यन्त संघर्ष होनेंसे विशुद्ध होती हैं तो चन्दनके गन्धके समान स्पष्ट प्रतीत होती हैं॥२७५॥

अनात्मवासनाजालैस्तिरोभूतात्मवासना।
नित्यात्मनिष्ठया तेषां नाशे भाति स्वयं स्फुटम् ७६

देह आदि अनात्मवस्तुके वासनासमूहसे आत्मवासना अन्तर्हित होजाती है। नित्य आत्माकी निष्ठासे, देह आदि अनित्य अनात्म वस्तुओंकी वासनाके नाश करनेके बाद आत्मवासना स्पष्ट मालूम होती है ७६

यथा यथा प्रत्यगवस्थितं मनस्तथा तथा मुञ्चति बाह्यवासनाम्। निश्शेषमोक्षे सति वासनानामात्मानुभूतिः प्रतिबन्धशून्या॥ २७७॥

प्रत्यक्परब्रह्ममें जैसे जैसे मन स्थिर होता जाता है तैसे तैसेही देह आदि बाह्यवासनाओंको त्यागता जाता है:जब मनसे सब वासनाएं दूर हो जाती हैं तब प्रतिबन्धकसे रहित आत्माका निरन्तर अनुभव होता है॥७७

स्वात्मन्येव सदा स्थित्वा मनो नश्यति योगिनः।
वासनानां क्षयश्चातः स्वाध्यासापनयं कुरु॥२७८॥

मनका नाश—चित्तवृत्तिका निरोधकर केवल आत्मवस्तुमें स्थिर होनेसेही योगियोंका मन नाशको प्राप्त होता है। मनके नाश होनेपर बाह्यवासना आपही क्षीण हो जाती हैं इस कारण आत्मामें जो जगत्का अध्यास हो रहा है उसका त्याग करो॥ २७८॥

तमो द्वाभ्यां रजः सत्त्वात्सत्त्वं शुद्धेन नश्यति।
तस्मात्सत्त्वमवष्टभ्य स्वाध्यासापनयं कुरु॥२७९॥

कौनसे गुणका कैसे नाश होता है—रजोगुण और सत्त्वगुणके बढनेसे तमोगुणका नाश होता है। सत्त्वगुणके बढनेसे रजोगुणका नाश

होताहै । प्रवृद्ध शुद्ध सत्त्वसे ही सत्त्वका नाश होताहै इस कारण सत्त्व गुणका अवलम्बन करके आत्मामें जो जगत्का अध्यास यानी भ्रम-हो रहा है उसका त्याग करो ॥ २७९ ॥

प्रारब्धं पुष्यति वपुरिति निश्चित्य निश्चलः ।
धैर्य्यमालम्ब्य यत्नेन स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८०॥

प्रारब्धही शरीरका पोषण करता है ऐसा निश्चयकर चंचलताको छोड, यत्नसे धैर्यको अवलंबन कर आत्मामें जो जगत्का अध्यास है उसे दूर कर ॥ २८० ॥

नाहं जीवः परं ब्रह्मेत्येतद्व्यावृत्तिपूर्वकम् ।
वासनावेगतःप्राप्तस्वाध्यासापनयं कुरु ॥ २८१ ॥

अध्यासके नाशकी युक्तियां—मैं जीव नहीं हूं साक्षात् परब्रह्म हूं ऐसी व्यावृत्तिके साथ परब्रह्ममें जीवभावका निषेध कर वासनावेगसे प्राप्त जो आत्मामें जीवका अध्यास है उसको दूर करो ॥ २८१ ॥

श्रुत्या युक्त्या स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सार्वात्म्यमात्मनः।
क्वचिदाभासतःप्राप्तस्वाध्यासापनयं कुरु ॥ २८२ ॥

श्रुतियोंसे और युक्तियोंसे और अपने अनुभवसें अपनेको सर्व स्वरूप समझकर मिथ्या ज्ञानसे प्राप्त जो आत्मामें जगत्का अध्यास है उसका त्याग करो ॥ २८२ ॥

अनादानविसर्गाभ्यामीषन्नास्ति क्रिया मुनेः ।
तदेकनिष्ठया नित्यं स्वाध्यासापनयं कुरु ॥ २८३ ॥

दूसरेसे द्रव्यादि, अपनेलिये न लेना और दूसरेके लिये देना इन दोनों क्रियाओंके अतिरिक्त दूसरी कोई भी क्रिया मुनिलोगोंके लिये नहीं है इस कारण इन दोनोंमेंसे एक क्रियामें सदा निष्ठा करके अपनें अध्यासको छोडदे ॥ २८३ ॥

तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थब्रह्मात्मैकत्वबोधतः ।
ब्रह्मण्यात्मत्वदार्ढ्याय स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८४॥

तत्त्वमसि आदि श्रुतिवाक्योंसे उत्पन्न ब्रह्म और आत्माके एकत्व-बोधसे, ब्रह्ममें आत्मबुद्धि दृढ होनेके लिये जगत्के अध्यासका त्याग करो ॥ २८४ ॥

अहंभावस्य देहेऽस्मिन्निःशेषविलयावधिः ।
सावधानेन युक्त्यात्मा स्वाध्यासापनयं कुरु ॥२८५॥

इस देहमें जो अहंबुद्धि होरही है उस अहंभावका जबतक निःशेष लय हो तबतक सावधान होकर अपनी युक्तियोंसे आत्माके अध्यासको दूर करो ॥ २८५ ॥

प्रतीतिर्जीवजगतोः स्वप्नवद्भाति यावता ।
तावन्निरन्तरं विद्वन् स्वाध्यासापनयं कुरु ॥ २८६ ॥

हे विद्वन् ! जबतक जीव और जगत्की प्रतीति स्वप्नवत् दीखे तब-तक निरंतर आत्मविषयक अध्यासको दूर करो ॥ २८६ ॥

निद्राया लोकवार्त्तायाः शब्दादेरपि विस्मृतेः ।
क्वचिन्नावसरं दत्त्वा चिन्तयात्मानमात्मनि ॥२८७॥

आत्मचिन्तन--निद्रा और लोककी वार्त्ता और शब्द स्पर्श आदि विषय इन सबका विस्मरण होनेपर कहीं भी अवसर न देकर अर्थात् सर्वथा विषयोंका विस्मरण कर आत्माको अपनेमें चिंतन करो॥२८७॥

मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमयं वपुः ।
त्यक्त्वा चाण्डालवद्दूरं ब्रह्मीभूय कृती भव ॥२८८॥

ब्रह्मीभूय कृती हो--मातापिताके मलसे उत्पन्न और मलमांससे भरेहुए इस शरीरको चाण्डालकी तरह दूरसेही त्यागकर ब्रह्ममय हो, कृत-कृत्य हो जावो ॥ २८८ ॥

घटाकाशं महाकाश इवात्मानं परात्मनि।
विलाप्याखण्डभावेन तूष्णीं भव सदा मुने॥ २८९॥

परमात्मामें जीवात्माको कैसे लय करे—हे मुने! जैसे घटके नाश होने-पर घटका आकाश, महाआकाशमें लीन हो जाता है तैसेही जीवा-त्माको परमात्मामें लयकरके अखण्ड स्वरूप होकर पीछे सदा मौन धारण करो॥ २८९॥

स्वप्रकाशमधिष्ठानं स्वयं भूय सदात्मना।
ब्रह्माण्डमपि पिण्डाण्डं त्यज्यतां मलभाण्डवत्२९०

स्वयं प्रकाशरूप जो जगत्का अधिष्ठान परब्रह्म है तद्रूप स्वयं होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको मलसे भरे भाण्डकी तरह त्याग करो॥२९०॥

चिदात्मनि सदानन्दे देहारूढामहंधियम्।
विवेश्य लिङ्गमुत्सृज्य केवलो भव सर्वदा॥ २९१॥

लिंगदेहका त्याग—देहमें जो अहंबुद्धि, फैल रही है उसे सदा आनन्द-रूप चिदात्मामें प्रविष्ट करके लिंगदेहके संसर्गको छोडकर केवल चैतन्यरूपसेही सदा स्थिर रहो॥ २९१॥

यत्रैष जगदाभासो दर्पणान्तः पुरं यथा।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भविष्यति॥२९२॥

जैसे दर्पणके भीतर पुरग्रामका प्रतिबिम्ब दीखता है तैसेही जिस ब्रह्ममें जगतका आभास हो रहा है वह ब्रह्म मैं हूँ ऐसा अपनेको जान-नेसे कृतकृत्य होजाओगे॥ २९२॥

यत्सत्यभूतं निजरूपमाद्यं चिदद्वयानन्दमरूपम-क्रियम्। तदेत्य मिथ्यावपुरुत्सृजेत शैलूषवद्वे-षमुपात्तमात्मनः॥ २९३॥

जीवात्माका जो असली अक्रिय सत्यभूत चैतन्य अद्वयानन्दरूप है उसको प्राप्त होकर नटके कृत्रिम रूपके समान आत्माने जो वेष धारण कर रखा है उसको त्याग कर दे॥ २९३॥

सर्वात्मना दृश्यमिदं मृषैव नैवाहमर्थः क्षणिकत्वदर्शनात् । जानाम्यहं सर्वमिति प्रतीतिः कुतोऽहमादेः क्षणिकस्य सिद्ध्येत् ॥ २९४ ॥

दृश्य क्षणिक हैं–सर्वात्माके तो सब रूप हुआ करते हैं उसके दृश्यकी कल्पना करना मिथ्या है अहंपदका अर्थ जीव देह आदि स्थूल जगत् नहीं है क्योंकि, यह सब क्षणिक दीखताहै कदाचित् कहो कि, क्षणिक दृश्यमान जगत् अहंपदका अर्थ है यह भी नहीं कह सकते क्योंकि, मैं सब जानता हूं ऐसी प्रतीतिकी सिद्धि, क्षणिक अहंकार आदिकोंको कैसे होगी क्योंकि–"क्षणपरिणामिनो हि भावा ऋते चिच्छक्तेः" ॥ २९४॥

अहंपदार्थस्त्वहमादिसाक्षी नित्यं सुषुप्तावपि भावदर्शनात् । ब्रूते ह्यजो नित्य इति श्रुतिः स्वयं तत्प्रत्यगात्मा सदसद्विलक्षणः ॥ २९५ ॥

प्रत्यगात्मा–अहंकार आदिका साक्षी व नित्य जो सुषुप्ति कालमेंभी वर्त्तमान रहता है वह स्वयं जीवात्मा सत् असत्से विलक्षण सर्वव्यापी है, क्योंकि, कठ २।३।१८ की श्रुति, 'अजो नित्यः शाश्वतः'जीवात्माको अजन्मा, अमर, और उत्पादकसे रहित कह रही है ॥ २९५॥

विकारिणां सर्वविकारवेत्ता नित्याविकारो भवितुं समर्हति । मनोरथस्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटं पुनः पुनर्दृष्टमसत्त्वमेतयोः ॥ २९६ ॥

अहंकार आदि जितने विकारी हैं उनके विकारोंका ज्ञाता विकार रहित नित्य होना चाहिये । उसका नित्य और अविकारी होना मनोरथ और स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें स्पष्ट है । पर वारंवार विकारोंकी असत्ताही देखी जाती है ॥ २९६ ॥

अतोऽभिमानं त्यज मांसपिण्डे पिण्डाभिमानिन्यपि बुद्धिकल्पिते । कालत्रयाबाध्यमखण्डबोधं ज्ञात्वा स्वमात्मानमुपैहि शान्तिम् ॥ २९७ ॥

शरीरका अभिमान छोड–इस कारण बुद्धिकल्पित पिण्डाभिमानी और मांसपिण्ड यह शरीर, इन दोनोंके अभिमानका त्याग करो । भूत भविष्य वर्त्तमान इन तीनों कालोंमें सदा वर्त्तमान, भेदरहित चैतन्य आत्मा, अपनेको जानकर शान्तिको प्राप्त हो जाओ ॥ २९७ ॥

त्यजाभिमानं कुलगोत्रनामरूपाश्रमेष्वार्द्रशवा-
श्रितेषु । लिङ्गस्य धर्मानपि कर्तृतादींस्त्यक्त्वा
भवाखण्डसुखस्वरूपः ॥ २९८ ॥

कुलगोत्रादिका अभिमानत्याग–आर्द्र शवरूप जो यह शरीर है इसके आश्रित जो कुल नाम गोत्र रूप और आश्रम हैं इन सबके अभिमानका त्याग करो। पूर्व प्रतिपादित जो लिंग देह है उसके जो कर्तृत्व आदिक धर्म हैं उन्हें छोडकर अखण्ड सुखरूप होजाओ संसारी, जिस आनन्दकी एक मात्राकाही भोग करपाते हैं ॥ २९८ ॥

सन्त्यन्ये प्रतिबन्धाः पुंसः संसारहेतवो दृष्टाः ।
तेषामेवं मूलं प्रथमविकारो भवत्यहंकारः ॥२९९ ॥

अहंकार प्रथम है–पुरुषके संसार प्राप्त होनेके बहुतसे कारण हैं वे दृष्ट हैं उन सबका मूल प्रथम विकार अहंकार है क्योंकि, अहंकारहीसे सबका प्रादुर्भाव होता है ॥ २९९ ॥

यावत्स्यात्स्वस्य सम्बन्धोऽहंकारेण दुरात्मना ।
तावन्न लेशमात्रापि मुक्तिवार्त्ता विलक्षणा ॥ ३०० ॥ ॐ

तबतक मुक्तिकी बातभी दूर है–दुरात्मा अहंकारके साथ जबतक आत्माका सम्बन्ध रहता है तबतक मुक्तिकी वार्त्ताका लेशमात्र भी होना विलक्षण है, मोक्ष होना तो सर्वथाही कठिन है ॥ ३०० ॥

अहंकारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते ।
चन्द्रवद्विमलः पूर्णः सदानन्दः स्वयं प्रभुः ॥ ३०१॥

जैसे राहुग्रहसे मुक्त होनेपर चंद्रमा, अपने परिपूर्ण प्रकाशमान रूपको प्राप्त होता है तैसेही आत्मा अहंकाररूप ग्रहके मुक्त होनेपर निर्मल परिपूर्ण, सदा आनन्दस्वरूप, स्वयं प्रकाशरूप अपने स्वरूपको प्राप्त होजाता है ॥ ३०१ ॥

यो वा पुरे सोऽहमिति प्रतीतो बुद्ध्या प्रक्लृप्तस्तमसातिमूढया। तस्यैव निःशेषतया विनाशे ब्रह्मात्मभावः प्रतिबन्धशून्यः ॥ ३०२ ॥

तमोगुणसे अतिमोहको प्राप्त हुई बुद्धिसे इस शरीरमें अहं ऐसा जो प्रतीत हुआ है उस प्रतीतिका निःशेष विनाश होनेसे, प्रतिबन्धकसे शून्य निरन्तर ब्रह्मात्मभाव होता है ॥ ३०२ ॥



ब्रह्मानन्दनिधिर्महाबलवताऽहंकारघोराहिना संवेष्ट्यात्मनि रक्ष्यते गुणमयैश्चण्डैस्त्रिभिर्मस्तकैः । विज्ञानाख्यमहासिना श्रुतिमता विच्छिद्य शीर्षत्रयं निर्मूल्याहिमिमं निधिं सुखकरं धीरोऽनुभोक्तुं क्षमः॥३०३॥

आत्मनिधिका महासर्प अहंकार—ब्रह्मानन्दरूप एक उत्तम निधिको, महाबलवान् अहंकाररूप भयंकर सर्प, सत्त्वरजस्तमरूपी कोपयुक्त तीन मस्तकोंसे संवेष्टित करके रक्षा करता है । जो धीर पुरुष श्रुतियुक्त ज्ञानरूपी महाखड्गसे अहंकाररूप सर्पके त्रिगुणात्मक तीनों मस्तकोंका छेदकर सर्पका निर्मूल नाश करैगा। वही धीर पुरुष, ब्रह्मानंदमहोदधिके परमसुखको भोगनेमें समर्थ होगा ॥ ३०३ ॥

यावद्वा यत्किञ्चिद्विषस्फूर्त्तिरस्ति चेद्देहे । कथमारोग्याय भवेत्तद्वद् हंतापि योगिनो मुक्त्यै ॥ ३०४ ॥

उसके विषका कार्य्य—जबतक थोडाभी विषका दोष शरीरमें रहता है तबतक वह शरीर आरोग्य नहीं होता तैसेही जबतक योगीका अहंकार निःशेष न होगा तबतक उसका मोक्ष होना कठिन है ॥ ३०४ ॥

अहमोऽत्यन्तनिवृत्त्या तत्कृतनानाविकल्पसंहृत्या॥
प्रत्यक्तत्त्वविवेकादिदमहमस्मीति विन्दते तत्त्वम् ३०५

उसकी निवृत्तिके फल—अहंकारकी अत्यन्त निवृत्ति होनेसे अहंकारके किये हुए नाना तरहके विकल्पोंका नाश होजाता है, पीछे जीवात्म-तत्त्वका विवेक होनेसे यह मैं हूं ऐसा तत्त्व लाभ होता है॥ ३०५॥

अहंकारे कर्तर्यहमिति मतिं मुञ्च सहसा
विकारात्मन्यात्मप्रतिफलजुषि स्वस्थितिमुषि।
यदध्यासात्प्राप्ता जनिमृतिजरादुःखबहुला
प्रतीचश्चिन्मूर्तेस्तव सुखतनोः संसृतिरियम्॥ ३०६॥

उसे कर्ता तथा त्यागमें संसारका अभावकथन-हे शिष्य! विकारात्मक आत्मप्रतिविम्बसंयुक्त, एवं आत्मसत्ताको छिपानेवाला कर्ता अहंकार है उससे जो अहं मैं कर्ता हूं यह बुद्धि होरही है इसको बल-पूर्वक छोड दो क्योंकि, इसी अहंकारका अध्यास आत्मामें पडनेसें व्यापक और चैतन्य मूर्ति सुखात्मक तुझ, प्रत्यगात्माको जन्ममरण जरा आदि अनेक दुःखयुक्त यह संसार भोगना पडता है॥ ३०६॥

सदैकरूपस्य चिदात्मनो विभोरानन्दमूर्तेरनव-द्यकीर्तेः। नैवान्यथा क्वाप्यविकारिणस्ते विना-हमध्यासममुष्य संसृतिः॥ ३०७॥

जबतक अहंकारका अध्यास आत्मामें नहीं होता तबतक सदा एकरूप चैतन्यात्मक, सर्वव्यापक, आनन्दमूर्ति पवित्र कीर्ति, विकारसें रहित तुमको, संसारभावना नहीं होती। अहंकारका अध्यास पडने-हीसे तुम्हें संसार प्राप्त है अन्यथा संसार है ही नहीं क्योंकि, तू तो स्वभावसे ही अविकारी है॥ ३०७॥

तस्मादहंकारमिमं स्वशत्रुं भोक्तुर्गले कण्टकवत्प्रतीतम् । विच्छिद्य विज्ञानमहासिना स्फुटं भुङ्क्ष्वात्मसाम्राज्यसुखं यथेष्टम् ॥ ३०८ ॥

अहंकारको नाश करनेके पीछे आत्मसाम्राज्यका भोग—हे विद्वन् ! इस कारण भोक्ता पुरुषके गलेमें कांटेके सदृश दुःखप्रद प्रतीयमान अहंकाररूप अपने शत्रुको विज्ञानरूप महाखङ्गसे छेदन करके आत्मसाम्राज्यके सुखको यथेष्ट भोग ॥ ३०८ ॥

ततोऽहमादेर्विनिवर्त्य वृत्तिं संत्यक्तरागः परमार्थलाभात् । तूष्णीं समास्वात्मसुखानुभूत्या पूर्णात्मना ब्रह्मणि निर्विकल्पः ॥ ३०९ ॥

प्राप्तिवालेको मौन कथन—अहंकारके नाश होनेके बाद अहंकारकी जो कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि वृत्ति हैं उनका त्याग कर परमार्थ वस्तुके लाभसे रागकाभी अच्छीतरह त्याग करके आत्मवस्तुके सुखका अनुभव होनेसे, निर्विकल्प हो, प्रत्यगात्मासे ब्रह्ममें मौन होकर बैठ जा ॥ ३०९ ॥

स मूलकृत्तोऽपि महानहं पुनर्व्युल्लेखितः स्याद्यदि चेतसा क्षणम् । संजीव्य विक्षेपशतं करोति नभस्वता प्रावृषि वारिदो यथा ॥ ३१० ॥

नष्ट हुएकोभी विक्षेपोंका कारण कथन—यह अहंकार ऐसा प्रबल है कि, समूल नाश होनेपर भी घोर चित्तका संघर्ष होतेही क्षण मात्रमें संजीवित होकर सैकडों विक्षेपोंको बढाता है जैसे कि, वर्षाकालमें वायुका संघर्ष होतेही थोडासाभी मेघ, आकाशमें नाना तरहकी आकृतियोंको करता है तैसेही चित्तके संघर्षसे अहंकार भी नाना तरहकी सृष्टिका विस्तार करता है ॥ ३१० ॥

निगृह्य शत्रोरहमोऽवकाशः क्वचिन्न देयो विषयानुचिन्तया । स एव संजीवनहेतुरस्य प्रक्षीणजम्बीरतरोरिवाम्बु ॥ ३११ ॥

दृष्टान्तके साथ अवकाश दानका निषेध—जैसे जम्बीरके वृक्षको काटने-परभी वर्षाके समयमें जलका संसर्ग होनेसे अंकुरित होकर फिर वह वृक्ष बढजाता है तैसेही अहंकाररूप शत्रुका नाश करनेपर भी विषयके अनुचिन्तनसे समय पाकर फिर वह अहंकार संजीवित हो उठता है। क्योंकि, अहंकारके उत्पन्न होनेमें विषयचिन्ताही कारण है इस कारण अहंकारके नाश होनेपर फिर विषयचिन्ता कभी न करना ॥ ३११ ॥

देहात्मना संस्थित एव कामी विलक्षणः काम-यिता कथं स्यात्। अतोऽर्थसन्धानपरत्वमेव भेद-प्रसक्त्या भवबन्धहेतुः ॥ ३१२ ॥

भवबन्धका कारण—देहमें आत्मबुद्धिसे वर्तमान जो कामी पुरुष है वो इससे विलक्षण इच्छा करानेवाला कैसे होगा इस कारण, भेदबुद्धिसे विषयके अनुचिन्तनमें तत्पर होनाही कारण है ॥ ३१२ ॥

कार्य्यं प्रवर्द्धनाद्बीजप्रवृद्धिः परिदृश्यते।
कार्य्यनाशाद्बीजनाशस्तस्मात्कार्य्यं निरोधयेत् ३१३

कार्य्यको नाशयोग्य कहना—कार्य्य बढनेसे बीजकीभी वृद्धि होती है। कार्य्यके नाश होनेसे बीजकाभी नाश होजाता है इस कारण कार्यका नाश करना चाहिये ॥ ३१३ ॥

वासनावृद्धितः कार्य्यं कार्य्यवृद्ध्या च वासनाः। ॐ॥
वर्द्धते सर्वथा पुंसः संसारो न निवर्त्तते ॥ ३१४ ॥

परस्परमें हेतुता—वासनाके बढनेसे कार्य बढता है। कार्य्यके बढनेसे वासना बढती है इस कारण पुरुषका संसार सर्वथा निवृत्त नहीं होता ॥

संसारबन्धविच्छित्त्यै तद्द्वयं प्रदहेद्यतिः।
वासनावृद्धिरेताभ्यां चिन्तया क्रियया बहिः ॥३१५॥

अतः वासना और कार्य्य दोनोंको मिटावे—संसारके बन्धनसे विमुक्त होनेके लिये कार्य्य और वासना इन दोनोंको योगी नाश करे। वास-नाकी वृद्धि तो विषयोंकी चिन्ता करनेसे और बाह्यक्रियाओंके करनेसे

होती है क्योंकि, विषयचिन्ताके छूटनेसे वासनाएं नष्ट होजाती हैं वासनाओंके नाश होनेसे फिर संसार नहीं होता ॥ ३१५ ॥

ताभ्यां प्रवर्द्धमाना सा सूते संसारमात्मनः ।
त्रयाणां च क्षयोपायः सर्वावस्थासु सर्वदा ॥ ३१६ ॥

वासनाओंको संसारोत्पादककथन–विषयकी चिन्ता और वाह्यक्रिया इन दोनोंसे बढीहुई वासना आत्माके लिये संसारको उत्पन्न करती है । इस कारण विषयचिन्ता और बाह्यक्रिया और वासना इन तीनोंके क्षय होनेका उपाय, सब कालोंमें और सब अवस्थाओंमें करना चाहिये ३१६

सर्वत्र सर्वतः सर्वं ब्रह्ममात्रावलोकनैः ।
सद्भाववासनादार्ढ्यात्तत्त्रयं लयमश्नुते ॥ ३१७ ॥

नाशका कारण--सब काल सब वस्तुओंमें, सबसे सबको ब्रह्ममय दीखनेसे उस ब्रह्ममय वासनाके दृढ होनेसे विषयचिन्ता और बाह्यकार्य और वासना ये तीनों लयको प्राप्त होजाते हैं ॥ ३१७ ॥

क्रियानाशे भवेच्चिन्तानाशोऽस्माद्वासनाक्षयः ।
वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते ॥ ३१८ ॥

जीवन्मुक्ति–क्रियाका नाश होनेसे चिन्ताका नाश होता है, चिन्ताके नाश होनेसे वासनाका क्षय होता है, वासनाका क्षय होनाही जीवन्मुक्ति है । जिसकी वासनाओंका क्षय हुआ है उस मनुष्यको समझना चाहिये कि, यह जीवन्मुक्त है ॥ ३१८ ॥

सद्वासनास्फूर्तिविजृम्भणे सतीत्यसौ विलीनाप्यहमादिवासना । अतिप्रकृष्टाप्यरुणप्रभायां विलीयते साधु यथा तमिस्रा ॥ ३१९ ॥

दृष्टान्त--जैसे अत्यंत प्रकृष्ट अन्धकार युक्त रात्रि भी सूर्य्यके सारथि अरुणकी प्रभाके उदयहोतेही नष्ट होजाती है, तैसेही मैं सत् ब्रह्म हूं इस वासनाकी स्फूर्त्ति बढने पर अहंकारादिकी ये वासनाएँ नष्ट हो जातीहैं॥ १९

तमस्तमःकार्य्यमनर्थजालं न दृश्यते सत्युदिते दिनेशे । तथाद्वयानन्दरसानुभूतौ नैवास्ति बन्धो न च दुःखगन्धः ॥ ३२० ॥

जैसे सूर्य्यके उदय होनेसे तम और अनर्थके समूह तमके कार्य्य, ये कहीं भी नहीं दीखते तैसेही अद्वितीय आनन्दमय रसके अनुभव होनेपर न संसाररूप बन्ध रहता है एवं न दुःखका गन्धही रहता है॥३२०॥

दृश्यं प्रतीतं प्रविलापयन्सन् सन्मात्रमानन्दघनं विभावयन् । समाहितः सन्बहिरन्तरं वा कालं नयेथाः सति कर्मबन्धे ॥ ३२१ ॥

कर्मबद्धकी स्थिति–हे शिष्य ! यदि तुम कर्मबन्धमें फँसे हो तो दृश्य प्रतीयमान इस जगत्को मिथ्या समझके लय करते हुए, सन्मात्र आनन्दघन आत्माको विचारते हुए, बाह्य और भीतरसे समाहित होकरही कालको व्यतीत करो ॥ ३२१ ॥

प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्त्तव्यः कदाचन ।
प्रमादो मृत्युरित्याह भगवान्ब्रह्मणः सुतः ॥ ३२२ ॥

प्रमादको मृत्युकथन–हे विद्वन् ! ब्रह्मकी निष्ठा प्राप्त होनेपर कभी प्रमाद न करना क्योंकि, ब्रह्मपुत्र नारदादि ऋषीश्वरोंने प्रमादहीको मृत्यु कहा है ॥ ३२२ ॥

न प्रमादादनर्थोऽन्यो ज्ञानिनः स्वस्वरूपतः ।
ततो मोहस्ततोऽहंधीस्ततो बन्धस्ततो व्यथा ॥३२३॥

प्रमादके दोष आदि–अपने आत्मस्वरूपसे प्रमाद करना अर्थात् अपने स्वरूपको भूलजाना या उससे असावधानता करना, इससे अन्य ज्ञानीके लिये दूसरा कोई अनर्थ नहीं है । क्योंकि, अपने रूपको भूलनेसेही मोह होता है, मोहसे अहंबुद्धि होती है अहंबुद्धि होनेसे संसारका बन्ध प्राप्त होता है, बन्ध होनेसे क्लेश होता है ॥ ३२३ ॥

विषयाभिमुखं दृष्ट्वा विद्वांसमपि विस्मृतिः।
विक्षेपयति धीदोषैर्योषा जारमिव प्रियम् ॥ ३२४ ॥

जैसे अपने तरफ साकांक्ष दृष्टि देते हुए जार पुरुषको देखकर कुलटा स्त्री अपने कटाक्ष विक्षेप आदि गुणोंसे उसे मोहितकर देती है वैसेही विषयमें प्रवृत्त हुए विद्वान् पुरुषकोभी विस्मृति, बुद्धिमें दोष सम्पादन करके नानाप्रकारसे विक्षिप्त करदेती है ॥ ३२४ ॥

यथापकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति।
आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम् ३२५

जैसे जलमेंके शैवालको हटादेनेपर फिर वह शैवाल क्षणमात्रभी अलग नहीं रहता शीघ्रही जलको आवृत कर देता है तैसेही आत्मविचारसे पराङ्मुख हुए विद्वान्‌को भी माया शीघ्रही अपनी आवरणशक्तिसे ढक देती है ॥ ३२५ ॥

लक्ष्यच्युतं चेद्यदि चित्तमीषद्बहिर्मुखं सन्निपतेत्ततस्ततः। प्रमादतः प्रच्युत केलिकन्दुकः सोपानपंक्तौ पतितो यथा यथा ॥ ३२६ ॥

जैसे कि, खेलमें हाथसे छूटाहुआ गेंद, सीढीयोंपर नीचेको ही गिरता जाता है तैसेही यदि ब्रह्मतत्त्वमें लगाहुआ चित्त थोडे कालभी उस लक्ष्यसे बाहिर्मुख हुआ तो नीचेहीको दौडता चला जाता है ॥ ३२६ ॥

विषयेष्वाविशेच्चेतः सङ्कल्पयति तद्गुणान्।
सम्यक्संकल्पनात्कामः कामात्पुंसः प्रवर्त्तनम्॥३२७

जब चित्त, विषयोंमें प्रवेश करता है तो विषयके गुणोंका संकल्प अर्थात् विचार किया करताहै। उनका अच्छीतरह दृढ होने पर विषयोंकी चाहना होती है इसके होनेसे पुरुषकी विषयोंमें प्रवृत्ति होतीहै ॥३२७॥

अतः प्रमादान्न परोऽस्ति मृत्युर्विवेकिनो ब्रह्मविदः समाधौ । समाहितः सिद्धिमुपैति सम्यक्समाहितात्मा भव सावधानः ॥ ३२८ ॥

श्रीस्वामीजी शिष्यको शिक्षा देते हैं कि, हे शिष्य ! इसलिये विवेकी ब्रह्मज्ञानी पुरुषको समाधिकालमें प्रमाद होनेसे अधिक दूसरा कोई मृत्यु नहीं है क्योंकि, जो पुरुष समाधिमें सदा स्थिर रहता है वह आत्मलाभरूप सिद्धिको प्राप्त होता है इस कारण तुम भी सावधान होकर चित्त स्थिर करो ॥ ३२८ ॥

ततः स्वरूपविभ्रंशो विभ्रष्टस्तु पतत्यधः ।
पतितस्य विना नाशं पुनर्नारोह ईक्ष्यते ॥ ३२९ ॥

समाधिकालमें प्रमाद होनेपर आत्मस्वरूपसे अलग होना पडता है अपने आत्मस्वरूपसे विभ्रष्ट हुए पुरुषका अधःपतन होता है । अधः पतित मनुष्य, विना नाशको प्राप्त हुये चाहे कि फिर उसका चित्त ऊपर उठ आत्मस्वरूपमें लगे ऐसा कभी नहीं होता ॥ ३२९ ॥

संकल्पं वर्जयेत्तस्मात्सर्वानर्थस्य कारणम् ।
जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहे च स केवलः ।
यत्किञ्चित्पश्यतो भेदं भयं ब्रूते यजुः श्रुतिः॥ ३३०

भेदवादिको दुखादिका कथन—इस कारण सम्पूर्ण अनर्थोंके कारण इस संकल्पको सर्वथा त्याग करनाही योग्य है जिसने इसे त्याग कर दिया वह जीवदशामें कैवल्य सुख पाता है । विदेह या शरीर पात होनेपर प्रकृतिके वन्धसे विनिर्मुक्त केवल ब्रह्म होजाताहै। जो मनुष्य इस ब्रह्ममें थोडीभी भेदबुद्धि रखता है वह भयको प्राप्त होता है ऐसा यजुर्वेदकी श्रुतियाँ कहती हैं कि 'उदरमन्तरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति' ३३०

यदा यदा वापि विपश्चिदेष ब्रह्मण्यनन्तेऽप्यणुमात्रभेदम् । पश्यत्यथामुष्य भयं तदैव यद्वीक्षितं भिन्नतया प्रमादात् ॥ ३३१ ॥

जो विद्वान् अनन्त परब्रह्ममें किंचित् मात्र भी भेद देखता है तो उसको उसी भेदबुद्धिसे भय प्राप्त होता है क्योंकि, प्रमादहीसे आत्मामें भेद देख पडता है इसकारण प्रमादसे सदा सावधान रहना चाहिये॥३१॥

श्रुतिस्मृतिन्यायशतैर्निषिद्धे दृश्येऽत्र यः स्वात्म-
मतिं करोति । उपैति दुःखोपरि दुःखजातं निषि-
द्धकर्त्ता स मलिम्लुचो यथा ॥ ३३२ ॥

दृश्यमें आत्मबुद्धिसे दुख–श्रुति और स्मृति और सैंकडों युक्तियोंसे निषिद्ध जो यह दृश्य संसार है इसमें जो अपने आत्माकी बुद्धि करता है वह परम दुख पाता है जैसे निषिद्ध कर्मोंके करनेवाले कर्त्ता मलिन पुरुष पाते हैं ॥ ३३२ ॥

सत्याभिसन्धानरतो विमुक्तो महत्त्वमात्मीयमु-
पैति नित्यम् । मिथ्याभिसन्धानरत स्तु नश्येद्दृष्टं
यदेतद्यदचौरचौरयोः ॥ ३३३ ॥

दृष्टान्तपूर्वक सत्यानुसंधानीको मुक्त तथा मिथ्यात्वीको नष्ट कथन–अद्वितीय ब्रह्मरूप सत्यवस्तुके विचारनेमें जो मनुष्य अनुरक्त रहता है वह जीवन्मुक्त होकर सदा आत्मीय महत्त्वको प्राप्त होता है यह जो मिथ्या वस्तु शरीर आदिके संग्रहमें अनुरक्त है उसको यही दृष्ट वस्तु संसार नष्ट करदेता है जैसे कि, अच्छे काम करनेवाला साधुजन उत्तम पदको पाजाता है तथा नीचकर्म करनेवाला चोर राजदण्ड पाकर परम दुख पाता है ॥ ३३३ ॥

यतिरसदनुसन्धिं बन्धहेतुं विहाय
स्वयमयमहमस्मीत्यात्मदृष्ट्यैव तिष्ठेत् ।
सुखयति ननु निष्ठा ब्रह्मणि स्वानुभूत्या
हरति परमविद्या कार्य्यदुःखं प्रतीतम् ॥ ३३४ ॥

चतुर्थ महावाक्य--विरक्त होकर यति, अनित्य वस्तुओंके अनुसन्धानको त्यागकर अयम्--स्वप्रकाशरूपसे अपरोक्ष आत्मा अहंकारसे लेकर देहतकके सबका साक्षी जीवात्मा ब्रह्मस्वरूप ही है, ऐसा अपनेमें आत्मदृष्टिसे स्थिर करके ऐसाही ध्यान लगाये रहै पीछे अपने अनुभवसे ब्रह्ममें जो निष्ठा होती है वही ब्रह्मनिष्ठा होती है । यही प्रतीयमान संसारी दुःखोंका नाशकरके परमसुखको देती है । "अयमात्मा ब्रह्म" यह चौथा महावाक्य है ॥ ३३४ ॥

बाह्यानुसन्धिः परिवर्द्धयेत्फलं दुर्वासनामेव तत-स्ततोऽधिकाम् । ज्ञात्वा विवेकैः परिहृत्य बाह्यं स्वात्मानुसन्धिं विदधीत नित्यम् ॥ ३३५ ॥

बाह्यवस्तुओंका अनुसन्धान--अर्थात् जो चिन्ता है वही अधिकसे अधिक दुर्वासनारूप फलोंको बढाती है। यदि विवेकसे ज्ञान उत्पादनकर बाह्यवस्तुओंकी चिन्ताका त्याग किया जाय तो वही विवेक आत्मवस्तुके अनुभवको सदा विधान करता है इसकारण बाह्यवस्तुकी चिन्ता छोडकर आत्मचिन्ता करना उचित है ॥ ३३५ ॥

बाह्ये निषिद्धे मनसः प्रसन्नता मनःप्रसादे परमा-त्मदर्शनम् । तस्मिन्सुदृष्टे भवबन्धनाशो बहि-र्निरोधः पदवी विमुक्तेः ॥ ३३६ ॥

मनकी प्रसन्नता-बाह्यवस्तुओंका निषेध होनेसे होती है । मनके प्रसन्न होनेपर परमात्माका साक्षात्कार होता है । परमात्माका दर्शन होनेसे संसाररूप बन्धका नाश होता है । इस कारण बाह्यवस्तुओंका निरोधही मुक्तिका स्थान है ॥ ३३६ ॥

कः पण्डितः सन्सदसद्विवेकी श्रुतिप्रमाणः पर-मार्थदर्शी । जानन् हि कुर्य्यादसतोऽवलम्बं स्वपा-तहेतोः शिशुवन्मुमुक्षुः ॥ ३३७ ॥

असत्के आलंबकी हेयता—परमात्मवस्तुका द्रष्टा और श्रुतियोंका प्रमाण जाननेवाला प्रकृति उसके कार्य और अत्मातत्त्वका विवेकी कौन ऐसा समीचीन विद्वान् होगा जो आत्मवस्तुको जानता हुआ भी परमपदसे पात होनेका कारण जो असत् वस्तुओंका ग्रहण है उसे करेगा जैसे कि, अज्ञानीवालक अपनी अज्ञानतासे ऐसी वस्तुका अवलम्बन करता है जिसके कि, ग्रहण करनेसे वह जमीनमें गिरजाता है ॥ ३३७ ॥

देहादिसंसक्तिमतो न मुक्तिर्मुक्तस्य देहाद्यभिमत्यभावः । सुप्तस्य नो जागरणं न जाग्रतः स्वप्नस्तयोर्भिन्नगुणाश्रयत्वात् ॥ ३३८ ॥

उक्तार्थमें दृष्टान्त—जैसे स्वप्नावस्थामें प्राप्त हुए मनुष्योंमें जाग्रत् अवस्थाका अभाव होता है और जाग्रत् अवस्थाको प्राप्त हुए मनुष्योंको स्वप्नावस्थाका अभाव रहता है क्योंकि, ये दोनों अवस्थाएँ परस्परमें भिन्न गुणोंको लिये हुए हैं तैसेही जो मनुष्य देह आदि अनित्यवस्तुओंमें आसक्त रहते हैं वे मोक्षके भागी नहीं होते। एवं जो मुक्त होगये हैं उनको देहआदिका फिर कभी अभिमान नहीं होता ॥ ३३८ ॥

अन्तर्बहिः स्वं स्थिरजङ्गमेषु ज्ञात्वात्मनाधारतया विलोक्य । त्यक्ताखिलोपाधिरखण्डरूपः पूर्णात्मना यः स्थित एव मुक्तः ॥ ३३९ ॥

मुक्त कौन है—वृक्षआदि जितने स्थावर जीव हैं और मनुष्यआदि जितने जंगम हैं उन सबमें बाहर और भीतर अपनें आत्माको जान, एवं सबकी कल्पनाका आधारभूत अपने आत्माको देखकर, संपूर्ण उपाधियोंको छोडकर अखण्डरूपसे परिपूर्ण होकर जो मनुष्य स्थित है वही मनुष्य मुक्त कहा जासकता है ॥ ३३९ ॥

सर्वात्मनो बन्धविमुक्तिहेतुः सर्वात्मभावान्न परोऽस्ति कश्चित् । दृश्याग्रहे सत्युपपद्यतेऽसौ सर्वात्मभावोऽस्य सदात्मनिष्ठया ॥ ३४० ॥

सर्वात्मभाव–सब वस्तुओंमें अपना आत्मा तथा सबको अपनें आत्मामें देखनेवालेको, बन्धसे विमुक्त होनेके कारण, सर्वात्मभावके सिवा दूसरा कोई नहीं है अर्थात् जो देहआदि दृश्य जगत् है उसमें मुमुक्षुपुरुषकी त्यागबुद्धि होनेपरही सर्वात्मभाव होता है यह सच्चिदा-नन्द परमात्मामें पूर्णनिष्ठा होनेसे होती है ॥ ३४० ॥

दृश्यस्याग्रहणं कथं नु घटते देहात्मना तिष्ठतो-
र्बाह्यार्थानुभवप्रसक्तमनसस्तत्तत्क्रियां कुर्वतः।
संन्यस्ताखिलधर्मकर्मविषयैर्नित्यात्मनिष्ठापरस्तै-
स्तत्त्वज्ञैः करणीयमात्मनि सदानन्देच्छुभिःसर्वतः ॥ ”

जो मनुष्य देहमें आत्मबुद्धि किये हुए बैठा है और बाह्य विषयोंके भोगोंमें मनको लगाकर बाह्यवस्तुओंकी क्रियाओंको कर रहा है उस पुरुषकी देह आदिमें त्यागबुद्धि कैसे होगी। इस कारण सम्पूर्ण मनकल्पित धर्मकर्म और विषयोंका त्याग किये हुए नित्य आत्मामें निष्ठा करनेवाले सदा अखण्ड आनन्दके इच्छु तत्त्वज्ञ पुरुषोंको प्रयत्नके साथ देह आदिके आग्रहको त्यागना उचित है ॥ ३४१ ॥

सर्वात्मसिद्धये भिक्षोः कृतश्रवणकर्मणः।
समाधिं विदधात्येषा शान्तो दान्त इति श्रुतिः३४२

समाधिमें श्रुतिप्रमाण–श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुसे आत्म अनात्मके विवेक आदिके श्रवण किये हुए संन्यासीके लिये सर्वात्मासिद्धिके लिये श्रुति कहती है कि, “ एवं विच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति” शास्त्रका श्रवण किया हुआ इंद्रिय और अन्तःकरणकी वृत्तियोंको रोके हुए, विरक्त और तितिक्षासे युक्त हो निर्विकल्प समाधिमें स्थिर होकर इसी शरीरमें अपने आत्माको देखलेता है तथा सबको अपना आत्मा देखता है ॥ ३४२ ॥

आरूढशक्तेरहमो विनाशः कर्तुं न शक्यः सहसापि पण्डितैः । ये निर्विकल्पाख्यसमाधिनिश्चलास्ता-नन्तरानन्तभवा हि वासनाः ॥ ३४३ ॥

अहंकारकी पूर्वोक्तशक्ति जबतक बढी रहती है तबतक उसका बलपूर्वक नाश करनेमें कोईभी पण्डित नहीं समर्थ हो सकते । जो विद्वान् निर्विकल्पक समाधिसे चित्तको स्थिर करते हैं किसी जन्मकी भी अनन्तानन्त वासनाएँ उन्हें आत्मलाभ होनेमें प्रतिबन्धक नहीं होतीं । निर्विकल्प समाधि तथा उसका उपयोग । समाधि सम् आङ् उपसर्ग पूर्वक धासे कि होकर समाधि शब्द बनता है जिसका अर्थ योग है इसका विधान श्वेताश्वतर उपनिषद्के द्वितीयाध्यायमें विस्तारके साथ आता है जिसमें कि, कई एक यजुर्वेदके मंत्र दिये हुए हैं । अमृत नादोपनिषद्में इसका विधान विस्तारके साथ मिलता है तथा ध्यान-बिन्दु आदि कई उपनिषदूमें इसका विधान है । वेदान्तपंचदशीकारने १-५५ में कहा है कि, निदिध्यासनकी परिपाकदशाही समाधि है । निदिध्यासनमें ध्याता ध्यान और ध्येय ये तीन पदार्थ रहते हैं । जब चित्त अभ्यासके बलसे ध्याता और ध्यान इन दोनोंको छोडकर केवल एक ध्येयकोही अपना अखंड विषय बनाये रहता है, इसी प्रकार की उसकी धारा बनी रहती है जैसे कि, हवामें तेलकी अखंड धार बनी रहती है । इसके प्रतिपादन करनेवाला योगशास्त्र अलगही है ॥ ३४३ ॥

अहंबुद्ध्यैव मोहिन्या योजयित्वा वृतेर्बलात् ।
विक्षेपशक्तिः पुरुषं विक्षेपयति तद्गुणैः ॥ ३४४ ॥

विक्षेपशक्ति अपने व्यापारके बलसे मोह देनेवाली अहंबुद्धिसे उसके गुणोंद्वारा पुरुषको विक्षिप्त कर देती है यानी विक्षेपशक्ति अपने व्यापा-रसे आवरण शक्तिको प्रवृत्त करती है यही अपने गुणोंसे पुरुषको विक्षिप्त करदेती है ॥ ३४४ ॥

विक्षेपशक्तिविजयो विषमो विधातुं निःशेषमा-
वरणशक्तिनिवृत्त्यभावे। दृग्दृश्ययोः स्फुटपयो-
जलवद्विभागे नश्येत्तदावरणमात्मनि च स्वभा-
वात् ॥ ३४५ ॥

आवरण शक्तिको पूरा निवृत्त किये विना विक्षेपशक्तिका विजय करना बहुत कठिन है। जैसे कि, द्रष्टा और दृश्य इन दोनोंके दुग्धसे जलके विभागकी तरह विभाग किया जाय तब स्वभावहीसे आवरण-शक्ति आत्मामें लीन होजायगी अभिप्राय यह है कि, जैसे दूधमें जल-मिलाने पर दुग्धसे अलग जल नहीं दीखता तैसेही द्रष्टा जो ईश्वर है और दृश्य जो जगत् है इन दोनोंका विभाग अज्ञानतासे नहीं मालूम होता। यदि विचारनेसे द्रष्टादृश्यका विभाग किया जाय तो आवरण-शक्ति आपही आप आत्मामें नष्ट होजायगी ॥ ३४५ ॥

निःसंशयेन भवति प्रतिबन्धशून्यो विक्षेपणं नहि
तदा यदि चेन्मृषार्थे ॥ सम्यग्विवेकः स्फुटबोध-
जन्यो विभज्य दृग्दृश्यपदार्थतत्त्वम्। छिनत्ति
मायाकृतमोहबन्धं यस्माद्विमुक्तस्य पुनर्न संसृतिः ॥

यदि मिथ्यावस्तुओंमें चित्तका विक्षेपन हो तो निश्चय ही प्रति-बन्धकसे रहित, एवं परिस्फुट बोधसे उत्पन्न हुआ समीचीन विवेक उत्पन्न होगा। वो विवेकी पुरुष, द्रष्टा और दृश्यपदार्थोंके विभागको सम्पादन कर माया कृत मोहजालका नाश करता है जिससे कि मुक्त होनेपर फिर संसारकी संभावनाही नहीं होती ॥ ३४६ ॥

परावरैकत्वविवेकवह्निर्दहत्यविद्यागहनं ह्यशेषम्।
किं स्यात् पुनः संसरणस्य बीजमद्वैतभावं समुपे-
युषोऽस्य ॥ ३४७ ॥

'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंसे जो जीव और ब्रह्मके एकत्वका विवेक सम्पादन किया है वही अग्नि है। वो सारे अविद्यारूप महावनको जडसमेत भस्म करदेता है। संसारके बीज अविद्याके नष्ट होनेपर अद्वैत-भावमें स्थित हुए मनुष्यके संसार प्राप्त होनेमें कुछ भी कारण नहीं रहता, तब उसे क्यों संसारकी प्राप्ति होगी ॥ ३४७ ॥

आवरणस्य निवृत्तिर्भवति च सम्यक् पदार्थदर्शनतः। मिथ्याज्ञानविनाशस्तद्विक्षेपजनितदुःख-निवृत्तिः ॥ ३४८ ॥

सम्यक् पदार्थ जो आत्मवस्तु है उसके दर्शन अर्थात् विचार होनेसे १-आवरण शक्तिकी निवृत्ति होती है। आवरणशक्तिकी निवृत्ति होनेसे २-मिथ्याज्ञानका नाश होता है,मिथ्याज्ञानके नष्ट होनेपर३-विक्षेपशक्तिसे पैदा हुए सम्पूर्ण दुःख निवृत्तिको प्राप्त होजाते हैं ॥ ३४८ ॥

एतत्रितयं दृष्टं सम्यग्रज्जुस्वरूपविज्ञानात्।
तस्माद्धि वस्तुतत्त्वं ज्ञातव्यं बन्धमुक्तये विदुषा॥३४९॥

जैसे रज्जुमें सर्पका भ्रम होनेपर काटने आदि अनेक तरहोंका भय और दुःख होता है पीछे दीपसे अच्छेतरहसे देखलेनेपर रज्जुका यथार्थ ज्ञान होनेसे यावत् भय और दुःख नष्ट होजाते हैं, तैसेही आवरण-शक्तिसे जो ईश्वरमें जगत्का मिथ्याज्ञान हुआ है, उसका एवं मिथ्या-ज्ञान तथा मिथ्याज्ञानसे जो दुःख प्राप्त हुआ है उसका नाश होजाता है यथार्थ विचारसे जगत्में जो आत्मज्ञान होगा उसीसे ये सब नष्ट होंगे इसकारण संसार बन्धसे मोक्ष होनेके लिये आत्मवस्तुका ज्ञान सम्पादन करना उचित है ॥ ३४९ ॥

अयोग्नियोगादिव सत्समन्वयान्मात्रादिरूपेण विजृम्भते धीः। तत्कार्य्यमेतत्रितयं यतो मृषा दृष्टं भ्रमस्वप्नमनोरथेषु ॥ ३५० ॥

जैसे अग्निका संयोग होनेसे लोहेका विलक्षणरूप दीखता है तैसेही बुद्धिमें सद्ब्रह्मके विराजनेपर मात्रारूपसे बुद्धि भी बढती है, चैतन्यके योग विना केवल बुद्धिमें प्रकाशकता नहीं रहती; क्योंकि, भ्रमदशामें स्वप्नावस्थामें और मनोरथमें बुद्धि, बुद्धिके कार्य्य और संपर्कजन्य दुख ये सब मिथ्याही देखे गये हैं ॥ ३५० ॥

ततो विकाराः प्रकृतेरहंमुखा देहावसाना विषयाश्च सर्वे। क्षणेऽन्यथा भावितया ह्यमीषामसत्त्वमात्मा तु कदापि नान्यथा ॥ ३५१ ॥

अहंकार आदि देहपर्यंत जितने प्रकृतिके विकार हैं व जितने विषय हैं वे सब अच्छी रीतिसे विचार करलेनेपर मिथ्या मालूम होते हैं। आत्मा तो सदाही एक रस रहता है ॥ ३५१ ॥

नित्याद्वयाखण्डचिदेकरूपो बुद्ध्यादिसाक्षी सदसद्विलक्षणः। अहंपदप्रत्ययलक्षितार्थः प्रत्यक् सदानन्दघनः परात्मा ॥ ३५२ ॥

नित्य, अद्वितीय, भेदसे रहित, चैतन्य, एकरूप, बुद्ध्यादिका साक्षी, और सत् प्रकृति और असत् उसके कार्य उन दोनोंसे विलक्षण, अहंपदकी जो प्रतीति है उसका लक्षित अर्थ, व्यापक, सत्स्वरूप, आनन्दघन परमात्मा है॥ ॥ ३५२ ॥

इत्थं विपश्चित्सदसद्विभज्य निश्चित्य तत्त्वं निजबोधदृष्ट्या। ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डबोधं तेभ्यो विमुक्तः स्वयमेव शाम्यति ॥ ३५३ ॥

इस रीतिसे मुक्त होनेकी योग्यतावाला विद्वान्, सत् असत्का विभाग कर अपनी बोधदृष्टिसे आत्मतत्त्वका निश्चय कर, अखण्ड बोधरूप आत्मा अपनेको जानकर, असद्वस्तुओंसे विमुक्त होकर आपहीसे शान्तिको प्राप्त होता है ॥ ३५३ ॥

अज्ञानहृदयग्रन्थेर्निःशेषविलयस्तदा ।
समाधिनाऽविकल्पेन यदाऽद्वैतात्मदर्शनम् ॥ ३५४ ॥

अज्ञानरूप हृदयकी ग्रन्थिका नाश तभी होता है जब कि, निर्विकल्प समाधिसे युक्त होकर अद्वैत आत्मस्वरूपका दर्शन किया जाता है अन्यथा अज्ञानका नाश होना कठिन है ॥ ३५४ ॥

त्वमहमिदमितीयं कल्पना बुद्धिदोषात्प्रभवति परमात्मन्यद्वये निर्विशेषे । प्रविलसति समाधावस्य सर्वो विकल्पो विलयनमुपगच्छेद्वस्तुतत्त्वावधृत्या ॥ ३५५ ॥

विशेषसे रहित अद्वितीय परमात्मामें अपनी बुद्धिके दोषसे यह तुम हो यह मैं हूं यह मेरा है ऐसी कल्पना होती है । निर्विकल्प समाधिमें आत्मवस्तुकी धारणासे पुरुषका सम्पूर्ण नामरूपका विकल्प नष्ट होकर केवल आत्मस्वरूपही दीखता है । इस कारण चित्त निरोधकर निर्विकल्प समाधि करनी चाहिये ॥ ३५५ ॥

शान्तो दान्तः परमुपरतः क्षान्तियुक्तः समाधिं कुर्वन्नित्यं कलयति यतिः स्वस्य सर्वात्मभावम् । तेनाविद्यातिमिरजनितान्साधु दग्ध्वा विकल्पान् ब्रह्माकृत्या निवसति सुखं निष्क्रियो निर्विकल्पः ३५६

जो यतिपुरुष बाह्य इन्द्रियोंको विषयसे निवृत्त कर परम उपरामको प्राप्त होकर क्षमायुक्त चित्तवृत्तिको निरोध करता हुआ अपनेको सर्वात्मस्वरूप मानता है वही पुरुष आत्मज्ञानसे अविद्यारूप अन्धकारद्वारा उत्पन्न हुई विकल्प वस्तुका नाश करके भेदबुद्धि और क्रियासे रहित हो ब्रह्मके साक्षात् स्वरूपसे, सुखपूर्वक निवास करता है ॥ ३५६ ॥

समाहिता ये प्रविलाप्य बाह्यं श्रोत्रादिचेतःस्वमहं चिदात्मनि । त एव मुक्ता भवपाशबन्धैर्नान्ये तु पारोक्ष्यकथाभिधायिनः ॥ ३५७ ॥

जो मनुष्य चित्तवृत्तिका निरोध करके बाह्य वस्तुओंकी ओर गये श्रोत्र आदि इन्द्रियों चित्तको चैतन्य, आत्मामें लयकर देते हैं । वे ही मनुष्य संसाररूप पाशसे मुक्त होते हैं दूसरे केवल परोक्ष ब्रह्मकी कथाके अभिधानकरनेवाले कभी मुक्त नहीं होते ॥ ३५७ ॥

उपाधिभेदात्स्वयमेव भिद्यते चोपाध्यपोहे स्वयमेव केवलः । तस्मादुपाधेर्विलयाय विद्वान् वसेत् सदा कल्पसमाधिनिष्ठया ॥ ३५८ ॥

उपाधिके भेद होनेसे आत्मा स्वयम् भिन्नहै । उपाधिके नाश होनेपर तो केवल एक आत्माही रहता है । इस कारण विद्वान्, उपाधिके लय करनेके लिये सदा निर्विकल्प समाधि लगाकर वास करे ॥३५८॥

सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया । ॐ ॥
कीटको भ्रमरं ध्यायन्भ्रमरत्वाय कल्पते ॥ ३५९ ॥

चित्तको इकट्ठा कर सच्चिदानन्द ब्रह्ममें आसक्त होनेपर एकानिष्ठ होनेसे यानी उसीसे निरन्तर चित्त लगानेसे ब्रह्मरूपताको प्राप्त होता है । जैसे कीडा भ्रमरका निरन्तर ध्यान करतेरभ्रमर बन जाता है। भ्रमर कीटका दृष्टान्त–भ्रमर दीवालोंमें एक मिट्टीका घर बनाकर कीडेको बन्द करदेता है । सूक्ष्म छिद्रसे अपनी भनभनाहटका शब्द सुनाकर अपने डंकोंसे उसको डरादिया करता है । उडके अलग चलाजाता है तो भी वह कीडा भयसे भ्रमरके रूप और शब्दका अनुक्षण ध्यान किया करता है । ऐसा निरंतर ध्यान करनेसे कुछ

दिनके बाद वह कीडा भ्रमर स्वरूप होजाता है तैसेही निरन्तर ईश्वरका ध्यान करनेसे मनुष्यभी ईश्वररूपही होसकता है ॥ ३५९ ॥

क्रियान्तराऽऽसक्तिमपास्य कीटको ध्यायन्नलित्वं ह्यलिभावमृच्छति । तथैव योगी परमात्मतत्त्वं ध्यात्वा समायाति तदैकनिष्ठया ॥ ३६० ॥

जैसे दूसरी क्रियाओंकी आसक्ति छोडकर केवल भ्रमरका ध्यान करनेसे कीडा भ्रमरके रूपको प्राप्त होजाता है तैसेही एकाग्रचित्त करके केवल परमात्मतत्त्वका ध्यान करनेसे योगी ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होजाता है ॥ ३६० ॥

अतीव सूक्ष्मं परमात्मतत्त्वं न स्थूलदृष्ट्या प्रतिपत्तुमर्हति । समाधिनात्यन्तसुसूक्ष्मवृत्त्या ज्ञातव्यमार्यैरतिशुद्धबुद्धिभिः ॥ ३६१ ॥

सूक्ष्म बुद्धिका उपयोग—परमात्मतत्त्व अतिसूक्ष्म है स्थूलदृष्टिसे कोई निश्चय नहीं करसकता । इस कारण चित्तवृत्तिका निरोध करके अत्यन्त सूक्ष्मवृत्ति और अति शुद्ध बुद्धिसे पवित्र बुद्धिवाले लोगोंको आत्मवस्तुका ज्ञान करना चाहिये ॥ ३६१ ॥

यथा सुवर्णं पुटपाकशोधितं त्यक्त्वा मलं स्वात्मगुणं समृच्छति । तथात्मनः सत्त्वरजस्तमोमलं ध्यानेन संत्यज्य समेति तत्त्वम् ॥ ३६२ ॥

शुद्धिमें सुवर्णका दृष्टान्त—जैसे सुवर्णमें दूसरा किसी धातुके मिलजानेसे सुवर्णका यथार्थगुण नष्ट होजाता है यदि अग्निमें अच्छी तरहसे पुटपाक आदि देकर शोधाजाय तो मलका त्याग करके वो अपने स्वाभाविक गुणोंको प्राप्त होजाता है तैसेही पुरुषके मनमें जो सत्त्व रज तमका मल है उसका ईश्वरके ध्यानसे त्याग करके शान्त होकर अपने यथार्थस्वरूपको प्राप्त होजाता है ॥ ३६२ ॥

निरन्तराभ्यासवशात्तदित्थं पक्कं मनो ब्रह्मणि लीयते यदा। तदा समाधिः सविकल्पवर्जितः स्वतोऽद्वयानन्दरसानुभावकः ॥ ३६३ ॥

निर्विकल्प कब होता है—पूर्वोक्तप्रकारसे जो रातदिनका अभ्यास है उससे मन परिपक्क होकर जब परब्रह्ममें लीन होजाता है तब अद्वितीय ब्रह्मानन्दरसके अनुभव करानेवाली निर्विकल्प समाधि स्वतः सिद्ध होजाती है ॥ ३६३ ॥

समाधिनानेन समस्तवासनाग्रन्थेर्विनाशोऽखिलकर्मनाशः। अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नतः स्यात् ॥ ३६४ ॥

इसीसे वासना नाश कथन—इस निर्विकल्प समाधिके सिद्ध होनेसे सम्पूर्ण वासनाओंकी ग्रन्थि नष्ट होजाती है। वासनाओंका नाश होनेसे सब कर्मोंका नाश होजाता है, इसके नाश होनेपर विना परिश्रम अन्तर बाह्य सर्वत्र सब ओर और सब कालमें ब्रह्मस्वरूपका ही प्रकाश होता है॥ ३६४

श्रुतेः शतगुणं विद्यान्मननं मननादपि।
निदिध्यासं लक्षगुणमनन्तं निर्विकल्पकम् ॥ ३६५ ॥

श्रवणादिका परस्परमें तारतम्य—सब कर्मोंको त्याग करके गुरुमुखसे आत्मवस्तुका श्रवण करना अत्यन्त उत्तम है। श्रवणसेभी सौगुना अधिक मनन अर्थात् गुरुमुखसे सुनकर अपने मनमें विचार करना उत्तम है। मननसेभी लाखगुना निदिध्यासन अर्थात् आत्मवस्तुका विचार करके सदा चित्तमें स्थिर करना उत्तम है। निदिध्यासनसेभी अनन्तगुण निर्विकल्पक उत्तम है ॥ ३६५ ॥

निर्विकल्पकसमाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम्। नान्यथा चलतया मनोगतेः प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ॥ ३६६ ॥

इसीकी सिद्धिसे ब्रह्मतत्त्वका बोध कथन—निर्विकल्पसमाधि सिद्ध होनेसें निश्चयही ब्रह्मतत्त्वका स्पष्ट बोध होता है। जबतक निर्विकल्प न होभीं तबतक मनकी गतिके चंचल होनेसे बाह्य वस्तुओंकी प्रतीतिसे मिला हुआही आत्मतत्त्व रहेगा ॥ ३६६ ॥

अतः समाधत्स्व यतेन्द्रियः सन्निरन्तरं शान्तमनाः प्रतीचि । विध्वंसय ध्वान्तमनाद्यविद्यया कृतं सदेकत्वविलोकनेन ॥ ३६७ ॥

हे शिष्य ! इस कारण तुम इन्द्रियोंको अपने वश करके सदा शान्त मन होकर प्रत्यक्ब्रह्ममें चित्तको स्थिर रक्खो, सच्चिदानन्दस्वरूप एक परब्रह्मके देखनेसे अनादि अज्ञानसे उत्पन्न हुए महा अन्धकारका नाश करो ॥ ३६७ ॥

योगस्य प्रथमद्वारं वाङ्निरोधोऽपरिग्रहः ।
निराशा च निरीहा च नित्यमेकान्तशीलता॥३६८॥

योगकी कारणपरंपरा—वचनका निरोध करना अर्थात् मौन धारण करना, द्रव्यका त्याग करना तथा आशाका त्याग होना और चेष्टाका त्याग करना एकान्तमें रहना तथा केवल एक ब्रह्ममेंही सदा चित्तको स्थिर रखना ये सब योगके प्रथम द्वार हैं ॥ ३६८ ॥

एकान्तस्थितिरिन्द्रियोपरमणे हेतुर्दमश्चेतसः संरोधे करणं शमेन विलयं यायादहंवासना । तेना-नन्दरसानुभूतिरचला ब्राह्मी सदा योगिनस्तस्मा-च्चित्तनिरोध एव सततं कार्यः प्रयत्नान्मुने ॥३६९ ॥

इन्द्रियोंके निरोध करनेमें सदा एक जगह स्थिर होना कारण है। इन्द्रियोंका निरोध करलेना चित्तके स्थिर होनेमें कारण है। चित्तके स्थिर होनेसे अहंकारकी वासनाएं नष्ट होजाती हैं। अहंकारके नाश होनेसे

योगियोंको ब्रह्मानन्दरसका निश्चल अनुभव होता है। इस कारण सदा चित्तका निरोध करनाही योगियोंका परम साधन है ॥ ३६९ ॥

वाचं नियच्छात्मनि तं नियच्छ बुद्धौ धियं यच्छ च बुद्धिसाक्षिणि। तं चापि पूर्णात्मनि निर्विकल्पे विलाप्य शांति परमां भजस्व ॥ ३७० ॥

किसका कहां निरोध करे—वाचक्से उपलक्षित ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंको मनमें मिलादो या निरोध करो मनका बुद्धिमें लय करो। बुद्धिकाभी बुद्धिके साक्षी जीवात्मामें लय करो। जीवात्माकोभी निर्विकल्प परिपूर्ण परमात्मामें लय करके परम शान्तिका सेवन करो। का. १।३।१३ 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' ॥३७०॥

देहप्राणेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिभिरुपाधिभिः।
यैर्यैर्वृत्तेः समायोगस्तत्तद्भावोऽस्य योगिनः ॥३७१॥

कोशयोगसे तद्भाव—देह, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि जितनीं उपाधि हैं इन उपाधियोंमेंसे जिस जिस उपाधिके संग योगियोंकी चित्तवृत्ति संयुक्त होती हैं वही भावना योगियोंको प्राप्त होती है, जीवात्मा भीं अन्नमय प्राणमय आदिसे बोला जाताहै। यह तै०में लिखा है ॥ ३७१॥

तन्निवृत्त्या मुनेः सम्यक् सर्वोपरमणं सुखम्।
संदृश्यते सदानंदरसानुभवविप्लवः ॥ ३७२ ॥

ब्रह्मरसानुभव—देह, प्राण, आदि उपाधिसे चित्तवृत्तिकी निवृत्ति होनेसे सवी विषयोंके वैराग्यका सुख होता है, वैराग्य होनेपर सच्चिदानन्दरसका अखण्ड अनुभव होता है ॥ ३७२ ॥

अन्तस्त्यागो बहिस्त्यागो विरक्तस्यैव युज्यते।
त्यजत्यन्तर्बहिः सङ्गं विरक्तस्तु मुमुक्षया ॥ ३७३ ॥

विरक्तोंका उभय त्याग—विरक्त पुरुषकोही अन्तस्त्याग और बाह्यत्याग

होता है अतएव विरक्त पुरुष मोक्षकी इच्छासे आन्तरीय संग और वाह्यसंग, दोनोंका सुखसे त्याग करते हैं ॥ ३७३ ॥

वहिस्तु विषयैः संगं तथान्तरहमादिभिः ।
विरक्त एव शक्नोति त्यक्तुं ब्रह्मणि निष्ठितः ॥३७४॥

विषयोंके साथ जो इन्द्रियोंका वाह्यसंग है और अहंकार आदिके साथ जो आन्तरीय संग है इन दोनों संगोंका ब्रह्मनिष्ठ विरक्तही त्याग करसक्ता है ॥ ३७४ ॥

वैराग्यबोधौ पुरुषस्य पक्षिवत्पक्षौ विजानीहि विचक्षण त्वम् । विमुक्तिसौधाग्रलताधिरोहणं ताभ्यां विना नान्यतरेण सिद्ध्यति ॥ ३७५ ॥

वैराग्य बोधको पंख कथन–हे शिष्य ! वैराग्य और बोध, इन दोनोंको पक्षीके पक्ष सदृश पुरुषके पंख जानो । जिस पुरुषके वैराग्य व बोध ये दोनों पंख विद्यमान हैं वही पुरुष मोक्षरूपी महलकी ऊंची अटारी-पर चढ सकता है एक पक्षके रहनेसे अर्थात् केवल वैराग्य अथवा केवल बोध होनेसे मुक्तिरूप लताको नहीं पासकता ॥ ३७५ ॥

अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः समाहितस्यैव दृढ-प्रबोधः । प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्धमुक्तिर्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः ॥ ३७६ ॥

सुखाभूनुति–अत्यन्त वैराग्ययुक्त पुरुषही निर्विकल्पक समाधिमें स्थिर होता है, उसी पुरुषको दृढतर बोध होता है, जिसके चित्तमें परम बोध उत्पन्न हो गया वही पुरुष संसारबन्धसे मुक्त होता है, वे पुरुषही सदा सुखका अनुभव करते हैं ॥ ३७६ ॥

वैराग्यान्न परं सुखस्य जनकं पश्यामि वश्यात्मन-स्तच्चेच्छुद्धतरात्मबोधसहितं स्वाराज्यसाम्राज्य-

धुक् । एतद्द्वारमजस्रमुक्तियुवतेर्यस्मात्त्वमस्मात्परं सर्वत्रास्पृहया सदात्मनि सदा प्रज्ञां कुरु श्रेयसे ॥ ३७७

मुक्तियुवतीका द्वार–जिस पुरुषने चित्तको अपने वश करलिया है उसको, सुखके जनक इस वैराग्यसे अधिक दूसरा कुछ प्रिय नहीं। यदि वह वैराग्य शुद्ध आत्मबोध संयुक्त हो तो स्वर्गीयराज्यके साम्राज्य सुखको देता है क्योंकि, बोधयुक्त वैराग्य, मुक्तिरूप युवतीका नितान्त द्वार है इस कारण सबी विषयोंकी इच्छाका त्याग कर अपने कल्याणके लिये तुम वैराग्ययुक्त होकर सच्चिदानन्द ब्रह्ममें बुद्धि स्थिर करो ॥ ३७७ ॥

आशां छिन्धि विषोपमेषु विषयेष्वेष्वैव मृत्योः कृतिस्त्यक्त्वा जातिकुलाश्रमेष्वभिमतिं मुञ्चाति-दूरात्क्रियाः । देहादावसति त्यजात्मधिषणां प्रज्ञां कुरुष्वात्मनि त्वं द्रष्टास्य मनोऽसि निर्द्वयपरं ब्रह्मासि यद्वस्तुतः ॥ ३७८ ॥

विषसमान विषयोंमें जो आशा लगी हुई है उसका त्याग करो क्यों कि, यही विषयोंकी आशा मृत्यु होनेका कारण है । जाति कुल ब्रह्म-चर्य्य आदि आश्रम अर्थात् मैं ब्राह्मणजातिका हूं मेरा प्रतिष्ठित कुल है मैं ब्रह्मचर्य्य आदिआश्रममें वर्त्तमान हूं, ऐसा जो अभिमान होरहा है इसका त्याग करो, यज्ञ आदि काम्यक्रियाओंका भी त्याग करो। अद्वैत परमात्मामें बुद्धि स्थिर रक्खो क्यों कि, इन सब अनित्य वस्तुओंके तुम द्रष्टा हो मनरहित हो, वस्तुतः अद्वितीय परब्रह्म तुम्हीं हो ॥ ३७८ ॥

लक्ष्ये ब्रह्मणि मानसं दृढतरं संस्थाप्य बाह्येन्द्रियं स्वस्थाने विनिवेश्य निश्चलतनुश्चोपेक्ष्य देहस्थितिम् । ब्रह्मात्मैक्यमुपेत्य तन्मयतया चाखण्डवृत्त्यानिशं ब्रह्मानन्दरसं पिबात्मनि मुदा शून्यैः किमन्यैर्भृशम् ७९

लक्ष्य जो परब्रह्म है अर्थात् जिस ब्रह्मका साक्षात्कार चाहते हो उसी परब्रह्ममें मनको दृढ स्थापित करो । श्रोत्र आदि बाह्य इन्द्रियोंको अपने स्थानमें स्थिरकर निश्चलशरीर होकर देहधारणकी उपेक्षा करो । जीव और ब्रह्मकी एकता जानकर ब्रह्ममय अखण्ड वृत्तिसे निरन्तर आत्मतत्त्वमें प्राप्त होकर ब्रह्मानन्दरसका प्रीतिपूर्वक आस्वादन कियाकरो । जितने शून्य पदार्थ हैं उनकी इच्छाका त्याग करो ॥ ३७९ ॥

अनात्मचिन्तनं त्यक्त्वा कश्मलं दुःखकारणम् ।
चिंतयात्मानमानन्दरूपं यन्मुक्तिकारणम् ॥ ३८० ॥

आत्मासे भिन्न बाह्यविषयोंका चिन्तन पापजनक है, दुःखका कारण है इसकारण विषयचिन्ताका त्याग करो । मोक्षके कारण आनन्दस्वरूप आत्माका सदा चिन्तन करो ॥ ३८० ॥

एष स्वयंज्योतिरशेषसाक्षी विज्ञानकोशे विलसत्यजस्रम् ॥ लक्ष्यं विधायैनमसद्विलक्षणमखण्डवृत्त्यात्मतयानुभावय ॥ ३८१ ॥

विज्ञान कोशमें आत्मप्रकाशका कथन—ये जो स्वयंप्रकाशस्वरूप सकल पदार्थोंका साक्षी आत्मा हैं विज्ञानमय कोशमें निरन्तर विद्यमान एवं अनित्य वस्तुओंसे विलक्षण व्यापक ईश्वर हैं । इन्हींको अन्तःकरणकी अखण्ड वृत्तिसे आत्मा जानकर उसीका चिन्तन कियाकरो ॥ ३८१ ॥

एतमच्छिन्नया वृत्त्या प्रत्ययान्तरशून्यया ।
उल्लेखयन्विजानीयात्स्वस्वरूपतया स्फुटम् ॥ ३८२ ॥

बाह्य वस्तुओंकी प्रतीतिसे शून्य अन्तःकरणकी अखण्डवृत्तिसे निश्चय करते हुए मुमुक्षुपुरुषको आत्मस्वरूपसे प्रकाशरूप परब्रह्मका ध्यान करना योग्य है ॥ ३८२ ॥

अत्रात्मत्वं दृढीकुर्वन्नहमादिषु संत्यजन् ।
उदासीनतया तेषु तिष्ठेत्स्फुटघटादिवत् ॥ ३८३ ॥

उदासीनता—पूर्वोक्त रीतिसे इस आत्मामें आत्मत्वको दृढ करते हुए एवं अहंकार आदि अनित्य वस्तुओंमेंसे आत्मबुद्धिका त्याग करते हुए योगी पुरुपको जैसे फूटे घटमें उपेक्षाबुद्धि होती है तैसे ही देह आदि अनित्य वस्तुओंसे उदासीन होकर सदा स्थिर रहना चाहिये ॥ ३८३ ॥

विशुद्धमन्तःकरणं स्वरूपे निवेश्य साक्षिण्यवबो-धमात्रे ॥ शनैः शनैर्निश्चलतामुपानयन्पूर्णं स्वमे-वानुविलोकयेत्ततः ॥ ३८४ ॥

ब्रह्म निश्चल हो—सर्वसाक्षी अवबोधमात्र जो आत्मस्वरूप है उसमें विशुद्ध अन्तःकरणका निवेश करके क्रमसे निश्चलताको प्राप्त होनेके वाद मोक्षार्थी पुरुपको चाहिये कि, वो पूर्ण ब्रह्म अपनेको समझे ॥ ३८४॥

· देहेन्द्रियप्राणमनोहमादिभिः स्वाज्ञानक्लृप्तैरखि-लैरुपाधिभिः । विमुक्तमात्मानमखण्डरूपं पूर्णं महाकाशमिवावलोकयेत् ॥ ३८५ ॥

महाकाशका साम्य—जैसे घटरूप उपाधि रहनेसे घटके भीतरभी एक आकाश प्रतीत होताहै पर घटके फूटतेही एकही महाआकाश रहजाता है, तैसेही अपने अज्ञानसे कल्पित जो देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, अहंकार आदि सम्पूर्ण उपाधि हैं इनके मिटते ही इससे छूटे हुएको महाकाशकी तरह मुक्त अखण्डरूप परिपूर्ण परमात्मा जाने ले ॥ ३८५ ॥

घटकलशकुसूलसूचिमुख्यैर्गगनमुपाधिशतैर्विमु-क्तमेकम् । भवति न विविधं तथैव शुद्धं परमह-मादिविमुक्तमेकमेव ॥ ३८६ ॥

दृष्टान्त—जैसे घट (कलश) कुसूल (कोठी गोर) मिट्टीके पात्र और सूचिका आदि वडी छोटी सैकडों चीजोंकी उपाधिके भेद होनेसे आका-शभी भिन्न भिन्न दीखता है इन सब उपाधियोंके नाश होनेसे एकही

महाकाश रहजाता है तैसेही अहंकार आदि नानातरहकी उपाधियोंसे आत्माभी अनेक मालूम होते हैं परंतु उपाधिके नाश होनेपर एकही शुद्ध परब्रह्म रहजाता है ॥ ३८६ ॥

ब्रह्मादिस्तम्बपर्य्यन्ता मृषामात्रा उपाधयः ।
ततः पूर्णं स्वमात्मानं पश्येदेकात्मना स्थितम् ॥ ३८७ ॥

उपाधि मिथ्या है अतः एक आत्माको देखे–जीव ब्रह्मसे लेकर स्तम्बतक जितनी भी उपाधि हैं वे सब केवल मिथ्या ही हैं इस कारण अपने आत्माको एकरूपसे सदा स्थित रहनेवाला सर्वतःपारिपूर्णरूप देखना ३८७

यत्र भ्रान्त्या कल्पितं तद्विवेके तत्तन्मात्रं नैव तस्माद्विभिन्नम् । भ्रान्तेर्नाशे भाति दृष्टाहितत्त्वं रज्जुस्तद्वद्विश्वमात्मस्वरूपम् ॥ ३८८ ॥

जैसे रज्जुमें सर्पका भ्रम होता है वह सर्प रज्जुस्वरूपही है क्योंकि, दीपद्वारा भ्रम नष्ट होनेसे यथार्थ रज्जुस्वरूपही दीखता है तैसे ही जिस आत्मामें भ्रान्तिसे संसारकी कल्पना होरही है वह संसारभी आत्मस्वरूपही है क्योंकि, विवेकके होनेपर भ्रमनष्ट होनेसे विश्वभी आत्मस्वरूपही दीखता है ॥ ३८८ ॥

स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः ।
स्वयं विश्वमिदं सर्वं स्वस्मादन्यन्न किञ्चन ॥ ३८९ ॥

सब कुछ आपही है–ब्रह्मज्ञान होनेपर ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, शिव और सब विश्व, अपनाही रूप दीखता है क्योंकि, आत्मासे भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं है ॥ ३८९ ॥

अन्तः स्वयं चापि बहिः स्वयं च स्वयं पुरस्तात् स्वयमेव पश्चात् । स्वयं ह्यवाच्यां स्वयमप्युदीच्यां तथोपरिष्टात्स्वयमप्यधस्तात् ॥ ३९० ॥

अन्तःकरण, बाहिर, आगे और पीछे दाहिने, बायें, ऊपर, नीचे सब जगह आत्मा है इस रीतिसे ब्रह्मज्ञानीको सर्वत्र सदा काल आत्मा ही दीखता है आत्मासे भिन्न दूसरी कुछभी वस्तु नहीं दीखती॥३९०॥

तरंगफेनभ्रमबुद्बुदादिवत्सर्वं स्वरूपेण जलं यथा तथा।
चिदेव देहाद्यहमंतमेतत्सर्वंचिदेवैकरसं विशुद्धम्॥३९१

इसी अर्थमें दृष्टान्त—जैसे जलमें तरङ्ग फेन, जलका इकट्ठा घूमना और जलका बुद्बुद (अर्थात् बुल्ला) ये सब अनेक रूपसे दिखाई देते हैं परन्तु जलसे भिन्न नहीं हैं जलरूपही हैं। तैसेही देह आदि अहंकारपर्यंत जितनी वस्तु दीखती हैं वे सब अखण्ड विशुद्ध चैतन्यस्वरूपही हैं चैतन्यसे कुछभी भिन्न २ पदार्थ नहीं है॥ ३९१॥

सदेवेदं सर्वं जगदवगतं वाङ्मनसयोः सतोऽन्यन्नास्त्येव प्रकृतिपरसीम्नि स्थितवतः॥ पृथक्किं मृत्स्नायाः कलशघटकुम्भाद्यवगतं वदत्येष भ्रान्तस्त्वमहमिति मायामदिरया॥ ३९२॥

सम्पूर्ण यह जगत् सत् ब्रह्म स्वरूपही है ऐसाही मन वचनसे निश्चय करो। प्रकृतिकी पर सीमामें विराजे हुए सत्से भिन्न नहीं है। क्योंकि, उपादान कारणसे कार्य भिन्न नहीं हुआ करता। वास्तवमें घट, कलश, कुम्भ ये सब मृत्स्वरूपही हैं तैसेही मायारूप मदिरासे जो पुरुप भ्रमको प्राप्त हुए हैं उन्हीं पुरुषोंकी यह तुम हो यह मैं हूँ, ऐसी भेदबुद्धि होती है वास्तवमें आत्मासे भिन्न कुछभी नहीं है सब आत्मस्वरूपही हैं ३९२

क्रियासमभिहारेण यत्र नान्यदिति श्रुतिः।
ब्रवीति द्वैतराहित्यं मिथ्याध्यासनिवृत्तये॥ ३९३॥

श्रुति प्रमाण—जहां वारवार निरन्तर ब्रह्मसे भिन्न वस्तुका निषेध किया है कि, कुछ भी नहीं है कुछभी नहीं है वहां इस प्रकार श्रुति द्वैतका

ॐ॥ असातनिशिद्धांतः देखो

अभाव कहती है। वहां और कोई बात नहीं केवल मिथ्या अध्यासकी निवृत्तिके लियेही कहा है ॥ ३९३ ॥

आकाशवन्निर्मलनिर्विकल्पनिःसीमनिष्पन्दननिर्विकारम् । अन्तर्बहिः शून्यमनन्यमद्वयं स्वयं परं ब्रह्म किमस्ति बोध्यम् ॥ ३९४ ॥

उसे क्या जानना है—आकाशके समान निर्मल नाम रूपकी कल्पनाके विकल्पसे रहित, अनन्त अक्रिय और विकारसे रहित बाहिरभीतरसे निर्दोष शून्य एक अद्वितीय परब्रह्म तुम हो दूसरा बोध्य कुछभी नहीं है किसको जानना चाहते हो ॥ ३९४ ॥

॥ॐ॥ वक्तव्यं किमु विद्यतेऽत्र बहुधा ब्रह्मैव जीवः स्वयं ब्रह्मैतज्जगदाततं नु सकलं ब्रह्माद्वितीयं श्रुतिः । ब्रह्मैवाहमिति प्रबुद्धमतयः संत्यक्तबाह्याः स्फुटं ब्रह्मीभूय वसन्ति संततचिदानन्दात्मनैतद्ध्रुवम् ३९५

सिद्धान्त—बहुतसे वाग्जाल बढानेसे क्या प्रयोजन है सिद्धान्त तो यही है कि, जीव स्वयं ब्रह्मही है । यह फैला हुआ संपूर्ण जगत् ब्रह्मही है क्यों कि, श्रुतिभी कहती है कि, एकमेवाद्वितीयम् एकही 'ब्रह्म' अद्वितीय ब्रह्म है । जिनके अंतःकरणमें परम बोध हुआ है वे मनुष्य बाह्य विषयोंका त्यागकरके मै ब्रह्म हूं ऐसी बुद्धिसे ब्रह्मस्वरूप हो सदा सच्चिदानन्दात्मकरूपसे निश्चल होकर वास करते हैं ॥ ३९५ ॥

जहि मलमयकोशेऽहंधियोत्थापिताशां प्रसभमनिलकल्पे लिङ्गदेहेऽपि पश्चात् । निगमगदितकीर्तिं नित्यमानन्दमूर्त्तिं स्वयमिति परिचीय ब्रह्मरूपेण तिष्ठ ॥ ३९६ ॥

आशाके त्यागके पीछे ब्रह्मरूपसे स्थिति कथन—हे शिष्य ! मलमयकोश जो यह स्थूल शरीर है इसमें अहंबुद्धि होनेसे जो आशा लगी हुई है उसका पहिले त्याग करो। पीछे इसी शरीरमें प्राणोंकेभी होनेसे वायु-सदृश जो सूक्ष्म लिंग शरीर है उसकी आशाकाभी त्याग कर नित्य आनन्दमूर्त्ति जो परब्रह्म है जिनकी कीर्तिको वेद गान करता है उससे पूरे परिचित होकर ब्रह्मरूपसे स्थित रहो ॥ ३९६ ॥

शवाकारं यावद्भजति मनुजस्तावदशुचिः
परेभ्यः स्यात्क्लेशो जननमरणव्याधिनिलयः।
यदात्मानं शुद्धं कलयति शिवाकारमचलं
तदा तेभ्यो मुक्तो भवति हि तदाह श्रुतिरपि॥३९७॥

शरीराभ्यासमें अशुद्धि तथा ज्ञानमें मुक्ति कथन—मृतकके समान अपवित्र इस देहका जबतक मनुष्य सेवन करता है तबतक अपवित्रही रहता है। पीडकोंसे दुख पाता रहता है जन्म, मरण, व्याधि और नाशका घर बना रहता है जो मनुष्य अपनेको शुद्ध चैतन्य अचल शिवस्वरूप देखता है तभी वो परोंके क्लेश, जनन और मरण आदिसे मुक्त होता है ऐसाही श्रुतिभी कहती है ॥ ३९७ ॥

स्वात्मन्यारोपिताशेषाभासवस्तुनिरासतः।
स्वयमेव परं ब्रह्म पूर्णमद्वयमक्रियम् ॥ ३९८ ॥

अपने आत्मामें जिन मिथ्यावस्तुओंका आरोप किया उन सबोंके मिथ्यापनेके निश्चयके साथ जो न कुछ समझा गया, इससे वो आपही अद्वितीय परिपूर्ण क्रियारहित परब्रह्म शेष रहजाता है ॥ ३९८ ॥

समाहितायां सति चित्तवृत्तौ परात्मनि ब्रह्मणि
निर्विकल्पे। न दृश्यते कश्चिदयं विकल्पः
प्रजल्पमात्रः परिशिष्यते ततः ॥ ३९९ ॥

विकल्प कहां नहीं है—नामरूपकी सृष्टिको विकल्प कहते हैं इनसे रहितको निर्विकल्पक कहते हैं । जब विकल्पसे रहित परमात्मा सच्चिदानन्द परब्रह्ममें, चित्तवृत्ति निश्चल होजाती है उस समय किसीभी बाह्यवस्तुका विकल्प नहीं दीखता, केवल प्रजल्पमात्र (यानी कथनमात्र) रह जाता है ॥ ३९९ ॥

असत्कल्पो विकल्पोऽयं विश्वमित्येकवस्तुनि ।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥ ४०० ॥

विकल्पको मिथ्या तथा ब्रह्ममें भेदाभाव कथन—एक वस्तु जो परब्रह्म है उसमें जो विश्वका विकल्प यानी नाम रूपका व्यवहार हो रहा है वो सब मिथ्याज्ञान कल्पित है वो भी झूठाजैसाही है क्योंकि, निर्विकार निराकार विशेपसे शून्य परब्रह्ममें भेद कैसे होसकता है ॥ ४०० ॥

द्रष्टुर्दर्शनदृश्यादिभावशून्यैकवस्तुनि ।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥ ४०१ ॥

द्रष्टा दर्शन और दृश्य इन तीनोंके भावसे शून्य, निर्विकार, निराकार विशेपविरहित ईश्वरमें कुछ भेद नहीं है । ईश्वरसे भिन्न अलग कोई वस्तु रहे तो उस वस्तुका द्रष्टा ईश्वर होसक्ता है और वह वस्तु दृश्य होगा और तभी ईश्वरमें दर्शन क्रियाका सम्भव होगा यदि ईश्वरसे भिन्न कुछभी नहीं है तो ईश्वर किसका द्रष्टा होगा ॥ ४०१ ॥

कल्पार्णव इवात्यन्तपरिपूर्णैकवस्तुनि ।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥ ४०२ ॥

प्रलयकालके समुद्र सदृश परिपूर्ण जो एक वस्तु निर्विकार निराकार विशेषशून्य परब्रह्म है उसमें भेद कहासे आयगा ॥ ४०२ ॥

तेजसीव तमो यत्र प्रलीनं भ्रान्तिकारणम् ।
अद्वितीये परे तत्त्वे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥ ४०३ ॥

जैसे सूर्यके उदय होतेही अन्धकार नष्ट होजाता है तैसेही भ्रमके कारण सम्पूर्ण बाह्य विषय जिस परब्रह्ममें लय होजाते हैं उस अद्वितीय विशेष शून्य परब्रह्ममें भेद कहां है ॥ ४०३ ॥

एकात्मके परे तत्त्वे भेदवार्त्ता कथं वसेत् ।
सुषुप्तौ सुखमात्रायां भेदः केनावलोकितः ॥ ४०४॥

केवल सुखमात्रकी साधक जो सुपुप्ति अवस्था है उसमें भेद किसने देखा है क्योंकि, एकात्मक जो अद्वितीय परब्रह्म है उसमें भेदकी वार्त्ता कैसे वास कर सकती है, सुपुप्तिमें सुखके अनुभवसे अलग दूसरी किसी वस्तुका भान नहीं होता तैसे ही ब्रह्मज्ञान होनेपर ब्रह्मसे अलग कुछभी नहीं दीखता ॥ ४०४ ॥

न ह्यस्ति विश्वं परतत्त्वबोधात्सदात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे । कालत्रयेणाप्यहिरीक्षितो गुणे नह्यम्बुबिन्दुर्मृगतृष्णिकायाम् ॥ ४०५ ॥

ब्रह्मज्ञान होनेके बाद निर्विकल्प जो सच्चिदानन्द परमात्मा है उसमें विश्वका भान नहीं होता । विवेक होनेसे रज्जुमें सर्प किसी कालमें किसीने नहीं देखा । मृगतृष्णिकामें नदी जलका एक बिन्दुभी किसीने नहीं पाया । परन्तु भ्रमसे रज्जुमें सर्पकाभी भान होता है और मृगतृष्णिकामें जलबुद्धिभी होती है तैसेही आत्मामें जबतक अज्ञान है तब तक संसारसम्भावना होती है । अज्ञानके दूर होनेपर आत्मासे भिन्न कुछभी नहीं दीखता ॥ ४०५ ॥

मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ।
इति ब्रूते श्रुतिः साक्षात्सुषुप्तावनुभूयते ॥ ४०६ ॥

माया क्याहै—ईश्वरमें जो द्वैत बुद्धि है वो मायाकल्पित है । जो अद्वैत बुद्धि है वही यथार्थ है । सुपुप्तिमें अद्वैतहीका भान होता है । व ुतसी श्रुतियां भी अद्वैतहीका स्पष्ट प्रतिपादन करती हैं ॥ ४०६ ॥

अनन्यत्वमधिष्ठानादारोप्यस्य निरीक्षितम् ।
पण्डितै रज्जुसर्प्पादौ विकल्पो भ्रान्तिजीवनः॥४०७॥

विकल्पका जीवन—रज्जुमें सर्पके भ्रममें, अधिष्ठान रज्जुसे आरोप्य सर्प भिन्न नहीं है, किन्तु रज्जुरूपही है तैसे ही जगत्के अधिष्ठान ब्रह्मसे उसमें हुआ जगत्का आरोप ब्रह्म स्वरूपही है क्योंकि, विकल्प सब भ्रान्तिसेही जीते हैं विना भ्रान्तिके कल्पित नहीं ॥ ४०७ ॥

चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावे न कश्चन ।
अतश्चित्तं समाधेहि प्रत्यग्रूपे चिदात्मनि ॥ ४०८ ॥

समाधिके लाभ—चित्तकी चंचलतासे ईश्वरमें विकल्प बुद्धि होती है, चित्तके स्थिर होनेसे सवी विकल्प नष्ट होजाते हैं इसकारण प्रत्यगात्मरूप ब्रह्ममें चित्तको स्थिर करो जिससे कि, विकल्प बुद्धिका अभाव होकर केवल ब्रह्मतत्त्वही दीखता है यही इसका लाभ है ॥ ४०८ ॥

किमपि सततबोधं केवलानन्दरूपं
निरुपममतिवेलं नित्यमुक्तं निरीहम् ।
निरवधिगगनाभं निष्कलं निर्विकल्पं
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्म पूर्णं समाधौ ॥ ४०९ ॥

समाधिका अनुभव—कोई अनिर्वचनीय, सदा बोधरूप, केवलानन्दस्वरूप, उपमारहित, नित्यमुक्त, चेष्टासे रहित, निःसीम आकाशके सदृश, व्यापक और निर्मल, कलाओंसे शून्य, निर्विकल्प ऐसे परिपूर्ण परब्रह्मका विद्वान् योगी लोग समाधिकालमें सदा हृदयमें ध्यान करते हैं ॥

प्रकृतिविकृतिशून्यं भावनातीतभावं समरसमसमानं मानसं बन्धदूरम् । निगमवचनसिद्धं नित्यमस्मत्प्रसिद्धं हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्मपूर्णं समाधौ ॥४१०॥

प्रकृतिविकृतिभावसे शून्य, मनुष्योंके विचारके अगोचर, सदा एकरस, उपमारहित, केवल मनका गोचर, संसारी बन्धसे विरहित

वेदवचनोंसे सिद्ध, नित्य, अस्मत् शब्दसे प्रसिद्ध ऐसे परिपूर्ण ब्रह्मको विद्वान् लोग सदा समाधिकालमें हृदयमें देखते हैं ॥ ४१० ॥

अजरममरमस्ताभाववस्तुस्वरूपं
स्तिमितसलिलराशिं प्रख्यमाख्याविहीनम् ।
शमितगुणविकारं शाश्वतं शान्तमेकं
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्मपूर्णं समाधौ ॥ ४११ ॥

अजर, अमर, नाशसे रहित, सत्स्वरूप, निश्चल, जलसमूहके सदृश, गम्भीर, नामसे रहित, गुण और विकारसे शून्य, भूत भविष्य वर्त्तमान इन तीनों कालोंमें सदा वर्तमान, शान्तस्वरूप, अद्वितीय ऐसे परिपूर्ण परब्रह्मका, विद्वान्लोग सदा समाधिमें ध्यान करते हैं ॥ ४११ ॥

समाहितान्तःकरणः स्वरूपे विलोकयात्मानम-
खण्डवैभवम् । विच्छिन्धि बन्धं भवगन्धगन्धितं
यत्नेन पुंस्त्वं सफलीकुरुष्व ॥ ४१२ ॥

सम्पादनका उपदेश—अपने अन्तःकरणको, सावधानतासे आत्मस्वरूपमें स्थिर रक्खो । अखण्ड विभवयुक्त परमात्माका सदा अवलोकन किया करो । संसारके गन्धसे युक्त बन्धनका छेदन करो । बडे पुण्यसें पुरुषका शरीर प्राप्त हुआ है ज्ञान सम्पादनरूपी यत्न करके इस शरीरको सफल करो ॥ ४१२ ॥

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
भावयात्मानमात्मस्थं न भूयः कल्पसेऽध्वने ४१३॥

हे विद्वन् ! सम्पूर्ण उपाधिसे विनिर्मुक्त सच्चिदानन्द अद्वितीय शरीरस्थ आत्माका विचार किया करो जिससे फिर जन्म मरणरूप क्लेशके मार्गको तुम्हें भोगना न पडेगा ॥ ४१३ ॥

छायेव पुंसः परिदृश्यमानमाभासरूपेण फलानुभूत्या।
शरीरमाराच्छववन्निरस्तं पुनर्न संधत्त इदं महात्मा४१४

महात्माओंका देहत्याग—महात्मा लोग मनुष्यकी छायाके समान आभास रूपसे दृश्यमान इस शरीरके फलका अनुभव करलेनेके बाद इस शरीरको मृतकके समान समझकर त्याग देते हैं वो फिर इस शरीरको प्राप्त नहीं होते ॥ ४१४ ॥

सततविमलबोधानन्दरूपं समेत्य त्यज जडमलरूपोपाधिमेतं सुदूरे । अथ पुनरपि नैष स्मर्यतां वान्तवस्तु स्मरणविषयभूतं कल्पते कुत्सनाय॥४१५

वान्त व त्याग—विमल बोधरूप आनन्दरूप परब्रह्मको निरन्तर प्राप्त होकर जड और मलरूप उपाधियुक्त इस शरीरको दूरहीसे त्याग दो त्याग किये पीछे फिर इस वान्तवस्तुका स्मरण मत करो । क्योंकि, ऐसी वस्तुओंका स्मरण करनेसे मनुष्य निन्दित कर्मको प्राप्त होजाता है॥

समूलमेतत्परिदह्य वह्नौ सदात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे । ततः स्वयं नित्यविशुद्धबोधानन्दात्मना तिष्ठति विद्वरिष्ठः ॥ ४१६ ॥

महात्माओंकी स्थिति—श्रेष्ठ विद्वान् महात्मा लोग, निर्विकल्प, सत्य, आत्मस्वरूपपरब्रह्मरूपीअग्निमें, स्थूल सूक्ष्म जडरूप इस संसारको समूल भस्म करके, नित्य विशुद्ध बोध आनन्दस्वरूप होकर सदा स्थित होते हैं ॥ ४१६ ॥

प्रारब्धसूत्रग्रथितं शरीरं प्रयातु वा तिष्ठतु गोरिवास्रक् । न तत्पुनः पश्यति तत्त्ववेत्तानन्दात्मनि ब्रह्मणि लीनवृत्तिः ॥ ४१७ ॥

प्रारब्ध संचालक है अतः ध्यानयोग्य नहीं—ब्रह्मज्ञानी पुरुष, शरीर आदि अनित्य वस्तुओंकी आशा छोडकर केवल आनन्दात्मक परब्रह्ममें चित्तवृत्तिका लयकिये पीछे प्रारब्ध कर्मरूपी सूत्रमें पुवा हुआ यह शरीर रहे चाहे नष्ट होजाय वे जो रक्तकी तरह इसकी तरफ दृष्टिभी नहीं करते यह चक्रभ्रमिकी तरह आपही चलता रहता है ॥ ४१७ ॥

अखण्डानन्दमात्मानं विज्ञाय स्वस्वरूपतः।
किमिच्छन् कस्य वा हेतोर्देहं पुष्णाति तत्त्ववित्॥४१८

जीवन्मुक्तिप्रतिपादिका श्रुति–" आत्मानं चेद् विजानीया दयमस्मीति पुरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनु संज्वरेत्॥" यह बृ. ४-४-१२ की श्रुति है। सायणाचार्य्यने इसे जीवन्मुक्त पुरुषकी तृप्तिको स्पष्ट करनेवाली माना है। श्रीशंकराचार्य्यजी महाराजनेभी अपने श्लोकोंसे इसका निरूपण प्रारंभकर दिया है कि, जीव, हृदय कमलमें रहनेवाली बुद्धिके भीतर विराजनेवाले अशना पिपासा आदिसे रहित अपने आत्माको, नेति नेतिसे कहा गया नित्य शुद्ध मुक्तस्वभाव अखण्ड आनन्द स्वरूप यह परमात्मा मैं हूं यह जानकर, उसके स्वरूपसे अतिरिक्त कुछ है ही नहीं तब वो किसकी इच्छा करता हुआ किसके प्रयोजनके लिये शरीरके तापसे सन्तप्त हो। इस श्रुतिके तीन भाग तथा इस श्लोकके तीन भाग तो निरन्तर एक वाक्यताको प्राप्त होजाते हैं पर 'शरीरमनु संज्वरेत्' तथा 'देहं पुष्णाति तत्त्ववित्' इसमें अन्तरसा प्रतीत होता है। क्योंकि, एक जगह ज्वर तथा दूसरी जगह पोषण मिलता है कि, किसलिये देहकी परवरिस करे। यदि विचारकरके देखा जाय तो, इस पोषणका सन्तापसे कुछभी अन्तर न प्रतीत होगा। पोषणकी चिन्ता सन्तापसे कम नहीं है सच तो यह है कि, किसीभी अध्यासकी चिन्ता हजार तापोंका एक ताप है॥४१८॥

संसिद्धस्य फलं त्वेतज्जीवन्मुक्तस्य योगिनः।
बहिरन्तः सदानन्दरसास्वादनमात्मनि॥ ४१९॥

होनेका फल–समीचीन सिद्ध जीवन्मुक्त योगी होनेका यही फल है जो कि, अपनी आत्मामें और भीतर सब ओरसे सच्चिदानन्द रसका आस्वादन किया करे॥ ४१९॥

वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम्।
स्वानन्दानुभवाच्छांतिरेषैवोपरतेः फलम्॥ ४२०॥

सबका फल—वैराग्य होनेका फल बोध है, बोध होनेका फल उपराति है, इन्द्रियोंके विषयोंसे विमुख होनेपर आत्मानन्दरसके अनुभवसें शान्तिको प्राप्त होनाही उपरतिका फल है ॥ ४२० ॥

यद्युत्तरोत्तराभावः पूर्वपूर्वं तु निष्फलम् ।
निवृत्तिः परमा तृप्तिरानन्दोऽनुपमः स्वतः ॥४२१॥

उत्तरके विना पूर्वकी निष्फलता—यदि वैराग्यका मुख्य फल बोधही नही हुआ तो वैराग्य होनाही निष्फल है । बोधका फल उपराति नहीं हुई तो बोधकाभी होना निष्फल है । विषयसे निवृत्त होनेपर परमतृप्ति होती है । तृप्तिके होनेपर आपहीसे अनुपम आनन्द होता है ॥४२१॥

दृष्टदुःखेष्वनुद्वेगो विद्यायाः प्रस्तुतं फलम् ।
यत्कृतं भ्रांतिवेलायां नानाकर्म जुगुप्सितम् ।
पश्चान्नरो विवेकेन तत्कथं कर्त्तुमर्हति ॥ ४२२ ॥

विद्याका फल—आ उपस्थित हुए नानाप्रकारके दुःखोंसे चित्तमें उद्वेग न होनाही विद्याका स्वाभाविक फल है, अज्ञान दशामें जो नाना-प्रकारके निन्दित कर्म कियेहैं उन्हें विवेक होनेपर कैसे करेगा कभी नहीं कर सकता ॥ ४२२ ॥

विद्याफलं स्यादसतो निवृत्तिः प्रवृत्तिरज्ञानफलं तदीक्षितम् । तज्ज्ञानयोर्यन्मृगतृष्णिकादौ नोचे-द्विदां दृष्टफलं किमस्मात् ॥ ४२३ ॥

असद्वस्तुओंकी निवृत्ति होना ही ज्ञान होनेका फल है । असद्-वस्तुओंमें प्रवृत्ति होना या दिखाई देना ही अज्ञानका प्रसिद्ध फल है । विद्वानोंको भ्रमात्मक ज्ञान तथा यथार्थ ज्ञानका दृष्ट फल, मृगतृष्णि-कामें प्रत्यक्ष उपलब्ध है । अर्थात् भ्रमात्मक ज्ञान होनेसे मृगतृष्णि-कामें अनहुआ जल दिखाई देता है यथार्थज्ञान होनेपर वह असत् जल निवृत्त होजाता है । इससे अधिक दृष्टफल और क्या है ॥ ४२३ ॥

अज्ञानहृदयग्रन्थेर्विनाशो यद्यशेषतः ।
अनिच्छोर्विषयः किन्तु प्रवृत्तेः कारणं स्वतः४२४ ॥

प्रवृत्तिप्रतिबन्धक–हृदयकी अज्ञानरूप ग्रन्थिका यदि निर्मूल नाश होजावे तो इच्छा रहित पुरुषकी स्वतः संसारमें प्रवृत्ति होनेका कौन विषय कारण होगा अर्थात् अज्ञानका नाश होनेपर कोई विषय पुनः प्रवृत्तिमें कारण नहीं होता। ज्ञानही विषयोंकी प्रवृत्तिका प्रतिबन्धक है२४

वासनानुदयो भोग्ये वैराग्यस्य तदावधिः ।
अहंभावो दयाभावो बोधस्य परमावधिः ॥ ४२५ ॥

वैराग्यकी अवधि–भोग्यवस्तुओंमें वासनाका उदय न होना ही है। ज्ञान होनेकी परम अवधि–अहंकारका उदय न होना यही है ॥ ४२५ ॥

ब्रह्माकारतया सदा स्थिततया निर्मुक्तबाह्यार्थधी-
रन्यावेदितभोग्यभोगकलनो निद्रालुवद्बालवत् ।
स्वप्नालोकितलोकवज्जगदिदं पश्यन्कचिल्लुब्धधी-
रास्ते कश्चिदनन्तपुण्यफलभुग्धन्यः समान्यो भुवि२६॥

धन्य मान्य– सदा ब्रह्ममय होकर स्थित रहनेपर बाह्य विषयोंसें बुद्धि हटजाती है। निद्रालु या बालककी तरह किसीने दे दिया तो लेलिया नहीं तो न सही। इस संसारको स्वप्नकी तरह देखता है अपनी बुद्धिको किसीमेंभी नहीं लुभाता ऐसा पुरुषही अनन्त पुण्योंके फलोंका भोगनेवाला है वही मान्य और धन्य है ॥ ४२६ ॥

स्थितप्रज्ञो यतिरयं यः सदानन्दमश्नुते ।
ब्रह्मण्येव विलीनात्मा निर्विकारो विनिष्क्रियः४२७॥

स्थितप्रज्ञ–जो यति पुरुष परब्रह्ममें आत्माका लय करके विकार और क्रियासे रहित होकर सदा आनन्दको प्राप्त होता है वही पुरुष स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ॥ ४२७ ॥

ब्रह्मात्मनोः शोधितयोरेकभावावगाहिनी ।
निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते४२८

प्रज्ञा–तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे शोधित जीवात्मा और परब्रह्ममें विकल्प बुद्धिसे रहित, एकत्वभावको अवगाहन करनेवाली जो चैतन्य ज्ञान मात्रा वृत्ति है इसीको प्रज्ञा कहते हैं ॥ ४२८ ॥

सुस्थितासौ भवेद्यस्य स्थितप्रज्ञः स उच्यते ।
यस्य स्थिता भवेत्प्रज्ञा यस्यानन्दो निरन्तरः ।
प्रपञ्चो विस्मृतप्रायः स जीवन्मुक्त इष्यते ॥ ४२९ ॥

प्रज्ञाकी स्थिरताका उपयोग–जीवब्रह्मके एकत्वभावके प्राप्तकरनेवाली जिसकी चैतन्य मात्रा प्रज्ञा सुस्थिर हैवह पुरुष स्थितप्रज्ञ कहाता है । जिसकी प्रज्ञा सुस्थिर है वही पुरुष निरन्तर आनन्द भोगता है । प्रपञ्च जगत जिसको विस्मृत होगया वही पुरुष जीवन्मुक्त कहाता है॥४२९॥

लीनधीरपि जागर्त्ति यो जाग्रद्धर्मवर्जितः ।
बोधो निर्वासनो यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥४३० ॥

जीवनमुक्तके बहुतसे लक्षण–अपनी बुद्धिको परब्रह्ममें लीन करनेपर भी जो मनुष्य जाग्रत् धर्मसे वर्जित है अर्थात् संसारीक्रियासे रहित है वही पुरुष जागरण करता है । जिसका कि, बोध बाह्य वासनासे रहित है वही जीवन्मुक्त है ॥ ४३० ॥

शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः ।
यस्य चित्तं विनिश्चिन्तं स जीवन्मुक्त इष्यते॥४३१॥

जिसकी संसारवासना शान्त होगई है वह आत्मकलनायुक्त होनेसेभी निष्कल कहाता है । जिसका चित्त चिन्तासे रहित है वही पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ४३१ ॥

वर्त्तमानेऽपि देहेऽस्मिञ्छायावदनुवर्त्तिनि ।
अहंताममताभावो जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४३२ ॥

प्रारब्धकर्मके अनुसार छायाके समान पीछे चलनेवाले शरीरके वर्तमान रहनेपरभी जिसके अहंकार और ममता नहीं हैं अर्थात् अपने वशीभूत होकर क्षीणभावको प्राप्त हो गये हैं वही पुरुष जीवन्मुक्त है ४३२

अतीताननुसंधानं भविष्यदविचारणम् ।
औदासीन्यमपि प्राप्तं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३३॥

बीतीहुई वस्तुओंका फिर स्मरण न कर होनेवाली वस्तुओंका विचार भी न करे प्राप्त वस्तुमें उदासीन रहे आसक्त न रहे यह जीवन्मुक्त पुरुषका लक्षण है ॥ ४३३ ॥

गुणदोषविशिष्टेऽस्मिन् स्वभावेन विलक्षणे ।
सर्वत्र समदर्शित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४३४ ॥

गुण और दोषसे संयुक्त और स्वभावसे विलक्षण इस संसारमें समदृष्टि रखना यह जीवन्मुक्तका लक्षण है ॥ ४३४ ॥

इष्टानिष्टार्थसम्प्राप्तौ समदर्शितयात्मनि ।
उभयत्राविकारित्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥४३५ ॥

जिस पुरुषका इष्ट वस्तुके प्राप्त होनेसे चित्तमें न हर्ष हुआ न अनिष्ट वस्तुके प्राप्त होनेसे खेद हुआ किन्तु दोनों अवस्थाओंमें समदृष्टि होनेसे जिसकी आत्मामें कोई तरहका विकार उत्पन्न नहीं हुआ वह जीवन्मुक्त है ॥ ४३५ ॥

ब्रह्मानन्दरसास्वादासक्तचित्ततया यतेः ।
अन्तर्बहिरविज्ञानं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥ ४३६ ॥

ब्रह्मानन्दरसके आस्वादनमें आसक्तचित्त होनेसे बाह्य और आन्तरीयवस्तुका ज्ञान न होना केवल एक ब्रह्मानन्दरसके आस्वादनमेंही लीन रहना यह जीवन्मुक्त पुरुषका लक्षण है ॥ ४३६ ॥

देहेन्द्रियादौ कर्त्तव्ये ममाहंभाववर्जितः ।
औदासीन्येन यस्तिष्ठेत्स जीवन्मुक्तलक्षणः ॥ ४३७ ॥

देह इन्द्रिय तथा कर्त्तव्य जितनी वस्तु हैं इन सबमें ममता और अहंकारसे रहित होकर उदासीनतासे जो सदा स्थिर रहता है वह जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ४३७ ॥

विज्ञात आत्मनो यस्य ब्रह्मभावः श्रुतेर्बलात् ।
भवबन्धविनिर्मुक्तः स जीवन्मुक्तलक्षणः ॥ ४३८ ॥

श्रुतियोंके देखने और विचारनेसे जिसने जीवात्माका ब्रह्मभाव जान लिया वही पुरुष भवबन्धसे विनिर्मुक्त होकर जीवन्मुक्त कहाजाता है ४३८

देहेन्द्रियेष्वहंभाव इदं भावस्तदन्यके ।
यस्य नो भवतः क्वापि स जीवन्मुक्त इष्यते ॥ ४३९ ॥

देह इन्द्रियोंमें अहंभाव और अन्यवस्तुओंमें इदंभाव ये दोनों भाव जिस पुरुषके कभी किसीभी वस्तुमें नहीं होते वह जीवन्मुक्त कहाजाता है ॥ ४३९ ॥

न प्रत्यग्ब्रह्मणो भेदं कदापि ब्रह्मसर्गयोः ।
प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्तलक्षणः ॥ ४४० ॥

जीवात्मा, परमात्मा, ब्रह्म और सृष्टिमें कभी भेद नहीं देखता वह जीवन्मुक्त है ॥ ४४० ॥

साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन् पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः ।
समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्तलक्षणः ॥ ४४१ ॥

समीचीन मनुष्योंसे देहकी पूजा होनेपर और दुर्जनोंसे पीडित होनेपरभी जिस मनुष्यका अन्तःकरण दोनों अवस्थाओंमें समभावको प्राप्त रहता है अर्थात् सज्जनोंसे सत्कार पाके न तो प्रसन्न हुआ एवं न दुर्जनोंके दुःदेनेसे दुखित हुआ वह मनुष्य जीवन्मुक्त कहा जाता है ॥ ४४१ ॥

यत्र प्रविष्टा विषयाः परेरिता नदीप्रवाहादिव वारिराशौ । लीयन्ति सन्मात्रतया न विक्रियामुत्पादयत्येष यतिर्विमुक्तः ॥ ४४२ ॥

जैसे नदियोंके प्रवाहसे जल, समुद्रमें जाकर समुद्रहीमें लीन होजाता है समुद्रकी वृद्धि नहीं करता तैसेही दूसरेके दिये हुए विषय यानी भोग्य वस्तुने जिसके अन्तःकरणमें कोई तरहका विकार उत्पन्न नहीं किया वही यति पुरुष जीवन्मुक्त है ॥ ४४२ ॥

विज्ञातब्रह्मतत्त्वस्य यथापूर्वं न संसृतिः। ॐ ॥
अस्ति चेन्न स विज्ञानब्रह्मभावो बहिर्मुखः ॥ ४४३ ॥

जीवन्मुक्तका संसार—जिस मनुष्यने ब्रह्मतत्त्वको जान लिया है उस पुरुषका पहिले जैसा अज्ञान क्लेशयुक्त संसार नहीं होता। यदि यह कहो कि, होता है तो वो ब्रह्मज्ञानी नहीं हैं वहिर्मुख है ॥ ४४३ ॥

प्राचीनवासनावेगादसौ संसरतीति चेत्।
न सदेकत्वविज्ञानान्मन्दीभवति वासना ॥ ४४४ ॥

वासनामान्द्य—यदि कहो कि, प्राचीन वासनाके वेगसे ब्रह्मज्ञानी पुरुष भी पूर्वकी तरहही संसारको प्राप्त होता है, यह न कहो; क्योंकि, सद्-ब्रह्मके एकत्व ज्ञान होनेसे वासना मन्द होजाती है ॥ ४४४ ॥

अत्यन्तकामुकस्यापि वृत्तिः कुण्ठति मातरि।
तथैव ब्रह्मणि ज्ञाते पूर्णानन्दे मनीषिणः ॥ ४४५ ॥

दृष्टान्त—जैसे अत्यन्त कामुक पुरुषकी भी कामचेष्टा मातामें कुण्ठित होजाती है तैसेही पूर्णानन्द परब्रह्मका ज्ञान होनेपर विद्वानोंकी पूर्व-वासना कुण्ठित होजाती है ॥ ४४५ ॥

निदिध्यासनशीलस्य बाह्यप्रत्यय ईक्ष्यते।
ब्रवीति श्रुतिरेतस्य प्रारब्धं फलदर्शनात् ॥ ४४६ ॥

प्रारब्ध भोग—प्रारब्धकर्मके फल देखनेसे ज्ञात होता है और श्रुतिभी कहती है कि, निदिध्यासनशील अर्थात् आत्मवस्तुके विचार करनेवाले यतिपुरुषको भी बाह्यपदार्थकी प्रतीति रहती है वे सब प्रारब्धके कार्य हैं॥

सुखाद्यनुभवो यावत्तावत्प्रारब्धमिष्यते।
फलोदयक्रियापूर्वो निष्क्रियो न हि कुत्रचित्॥४४७

प्रारब्ध मिथ्यात्व प्रमाण—

अवश्य भोग्य—जबतक सुखदुखका अनुभव रहता है तबतक प्रारब्ध-कर्म बनाही रहता है। पूर्वमें क्रिया करनेसे फलका उदय होता है वो विना अपना कार्य दिखाये चुप नहीं रह सकता विना भोगे नष्ट नहीं होता है ॥ ४४७ ॥

ॐ॥ अहं ब्रह्मेति विज्ञानात्कल्पकोटिशतार्जितम् ।
संचितं विलयं याति प्रबोधात्स्वप्नकर्मवत् ॥ ४४८ ॥

संचितका नाश—मैं ब्रह्म हूं ऐसा विज्ञान होनेसे करोडहूं कल्पके अर्जित संचितकर्म्म विलयको प्राप्त हो जाते हैं जैसे कि, जागनेपर स्वप्नावस्थाके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ४४८ ॥

यत्कृतं स्वप्नवेलायां पुण्यं वा पापमुल्बणम् ।
सुप्तोत्थितस्य किं तत्स्यात्स्वर्गाय नरकाय वा ॥ ४४९

जैसे स्वप्नाअवस्थामें पुण्य अथवा घोर पाप किया हो तो उस पुण्य पापसे जागनेपर न स्वर्ग होता है न नरक होनेकीही सम्भावना होती है तैसेही पूर्वावस्थाका किया कर्मका फल ब्रह्मात्मैक्यज्ञान दशामें कुछभी नहीं रहता ॥ ४४९ ॥

स्वमसङ्गमुदासीनं परिज्ञाय नभो यथा ।
न श्लिष्यति च यत्किंचित्कदाचिद्भाविकर्मभिः ४५०

उत्तरका अश्लेष—जैसे आकाश किसी वस्तुमें आसक्त नहीं है, सब वस्तुओंमें उदासीन रीतिसे व्याप्त है। तैसेही जो मनुष्य अपनेको संग-रहित उदासीन जानकर स्थिर है वह कभी किसी भावीकर्मसे लिप्त नहीं हो सकता है ॥ ४५० ॥

न नभो घटयोगेन सुरागन्धेन लिप्यते ।
तथात्मोपाधियोगेन तद्धर्मैर्नैव लिप्यते ॥ ४५१ ॥

जैसे घटका आकाश घटस्थमद्यके गन्धसे लिप्त नहीं होता तैसेही नाना तरहकी उपाधियोंके होनेसे आत्मा उपाधिके धर्मोंसे लिप्त नहीं होता है ॥ ४५१ ॥

ज्ञानोदयात्पुरारब्धं कर्मज्ञानान्न नश्यति ।
अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत् ॥४५२॥

ज्ञानसे प्रारब्ध नहीं मिटता—ज्ञान होनेके पहिले जो कर्म किया वे अपनें परिपाकपर फल देंने लगगये विना अपना फल दिये ज्ञानसे नहीं नष्ट होते जैसे कि, किसी एक लक्ष्यपर बाण छोडा जाय तो वह बाण लक्ष्यके मारे विना मध्यमें नहीं रुकता ॥ ४५२ ॥

व्याघ्रबुद्ध्या विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ ।
न तिष्ठति छिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम् ॥४५३ ॥

उक्तार्थमें दृष्टान्त—व्याघ्रबुद्धिसे छोडा गया बाण पश्चात् व्याघ्रके गौ दीखनेपरभी बाण मध्यमें नहीं रुकता लक्ष्यका घात करताही है, तैसें ही अज्ञानदशामें जो कर्म किये गये हैं उनके परिपाकपर प्रारब्धका फल भोगनाही पडेगा ज्ञानसे उसकी निवृत्ति नहीं होगी ॥ ४५३ ॥

प्रारब्धं बलवत्तरं खलु विदां भोगेन तस्य क्षयः
सम्यग् ज्ञानहुताशनेन विलयः प्राक्संचितागामिनम् ।
ब्रह्मात्मैक्यमवेक्ष्य तन्मयतया ये सर्वदा संस्थिता-
स्तेषां तत्त्रितयं न हि क्वचिदपि ब्रह्मैव तन्निर्गुणम् ४५४

तन्मयतावालेको कुछ नहीं—यदि विद्वानोंका प्रारब्ध बलवान् होजाता है तो उसका भोगसेही नाश होता है । संचित और आगामी ज्ञानरूप अग्निसे नष्ट होजाते हैं किन्तु जो महापुरुष जीव ब्रह्मकी एकताको देखकर उसीमें अपने आत्माको लगा निर्विकल्प होकर विराजते हैं उनके लिये संचित आगामी और प्रारब्ध ये तीनोंही नहीं रहते क्योंकि, वो तो निर्गुण ब्रह्मही है ॥ ४५४ ॥

उपाधितादात्म्यविहीनकेवलब्रह्मात्मनैवात्मनि
तिष्ठतो मुनेः । प्रारब्धसद्भावकथा न युक्तास्वप्ना-
र्थसंबन्धकथेव जाग्रतः ॥ ४५५ ॥

युक्तभी नहीं—जैसे स्वप्नके समयमें जो विषयोंका इन्द्रियोंके साथ संबन्ध होता है वह जागनेपर नष्ट होजाता है तैसेही देह आदि उपाधियोंके तादात्म्यभावके भ्रमसो निवृत्त हुए एवं केवल परब्रह्म आत्माकी एकत्व-बुद्धिसे आत्मामें सुस्थिर हुए मुनिलोगोंके लिये प्रारब्ध कर्मके फलका सम्बन्ध करना युक्त नहीं है । क्योंकि, वे तो संबन्धसे रहित हैं॥४९५॥

न हि प्रबुद्धः प्रतिभासदेहे देहोपयोगिन्यपि च प्रपञ्चे । करोत्यहन्तां ममतामिदन्तां किं तु स्वयं तिष्ठति जागरेण ॥ ४९६ ॥

सम्यक् ज्ञानी पुरुषोंको कर्म फल नहीं भोगना पडता इसका कारण यह है कि, ज्ञानीपुरुष प्रतिभास (मिथ्या) रूप इस देहमें अहंबुद्धि नहीं रखते । इस देहका उपकारक जितनाही विषय प्रपञ्च है उसमें ममता इदंता अर्थात् यह मेरा है यह अमुक है ऐसी बुद्धिको छोडके केवल आत्मस्वरूपमेंही जागरण करते हैं ॥ ४९६ ॥

न तस्य मिथ्यार्थसमर्थनेच्छा न संग्रहस्तज्जगतोऽपि दृष्टः । तत्रानुवृत्तिर्यदि चेन्मृषार्थे न निद्रया मुक्त इतीष्यते ध्रुवम् ॥ ४९७ ॥

ब्रह्मज्ञानी मनुष्य मिथ्या विषयोंको प्रार्थनकी इच्छा नहीं करते, मिथ्या जगतका संग्रहभी नहीं देखागया है । यदि उस मिथ्यापदार्थमें अनुवृत्ति होती अर्थात् यथार्थबुद्धि होती तो निद्रासे मुक्त मनुष्यभी स्वप्नावस्थाके विषयोंको स्थिर मानते अर्थात् जैसे स्वप्न दशाका देखा पदार्थ जागनेपर मिथ्या दीखपडता है तैसेही ज्ञानीको जगत्भी मिथ्या है॥

तद्वत्परे ब्रह्मणि वर्त्तमानः सदात्मना तिष्ठति नान्यदीक्षते । स्मृतिर्यथा स्वप्नविलोकितार्थे तथा विदः प्राशनमोचनादौ ॥ ४९८ ॥

प्रारब्धाविचारः असत्निषिद्धान्तः

परब्रह्ममें वर्तमान होकर आत्मस्वरूपसे सदा स्थिर है ब्रह्मसे भिन्न दूसरा कुछ नहीं देखता जैसे कि, स्वप्नावस्थाके देखे पदार्थोंका स्मरण जागनेपर होता है तैसेही ज्ञानदशामें प्राशन मोचन आदिमें ज्ञानीको स्मरणमात्र होता है ॥ ४५८ ॥

कर्मणां निर्मितो देहः प्रारब्धस्तस्य कल्प्यताम् ।
नानादेरात्मनो युक्तं नैवात्मा कर्मनिर्मितः ॥ ४५९॥

अनादि आत्माका प्रारब्ध नहीं—कर्महीसे देहका निर्माण होता है, प्रारब्ध भी देहहीमें रहता है अनादि आत्माका निर्माण कर्मसे नहीं हो सकता क्योंकि, और आत्मा कर्मनिर्मित नहीं है ॥ ४५९ ॥

अजो नित्यः शाश्वत इति ब्रूते श्रुतिरमोघवाक् ।
तदात्मना तिष्ठतोऽस्य कुतः प्रारब्धकल्पना ॥४६०॥

'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः' यह श्रुति आत्माको नित्य कहती है । आत्मस्वरूपसे वर्त्तमान उसी पुरुषके प्रारब्धकी कल्पना क्यों होगी ॥ ४६० ॥

प्रारब्धं सिद्ध्यति तदा यदा देहात्मना स्थितिः ।
देहात्मभावो नैवेष्टः प्रारब्धं त्यज्यतामतः ॥ ४६१॥

प्रारब्धकी सिद्धि तबतकही है जबतक देहमें आत्मबुद्धि है । ज्ञानीकी ऐसी आत्मबुद्धि इस देहमें इष्ट नहीं है इसलिये प्रारब्धका त्याग करो ॥ ४६१ ॥

शरीरस्यापि प्रारब्धकल्पना भ्रान्तिरेव हि ।
अध्यस्तस्य कुतः सत्त्वमसत्त्वस्य कुतो जनिः॥४६२॥

शरीरकीभी नहीं—यह शरीर प्रारब्धसे निर्मित है ऐसी कल्पना करना भी भ्रान्तिमात्रही है क्यों कि, जो अध्यस्त है अर्थात् भ्रमसे उत्पन्न है वह सत्य कैसे होगा जो असत्य है उसका जन्मभी कैसे होसकता है॥४६२

अजातस्य कुतो नाशः प्रारब्धमसतः कुतः ।
ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि ॥ ४६३ ॥

अज्ञानसे उत्पन्न जितने कार्य्य हैं उनका यदि ज्ञानसे समूल लय किया जाय तो जो अजात है (अर्थात् जिसका जन्मही नहीं है) उसका नाश कहांसे होगा और जो हुई नहीं है उसका प्रारब्ध भी नहीं है ॥ ४६३ ॥

तिष्ठत्ययं कथं देह इति शङ्कावतो जडान् ।
समाधातुं बाह्यदृष्ट्या प्रारब्धं वदति श्रुतिः ।
न तु देहादिसत्यत्वबोधनाय विपश्चिताम् ॥ ४६४ ॥

श्रुतिका समाधान—यदि इस देहकी उत्पत्ति नहीं है तो यह वर्त्तमान क्यों है ? ऐसी शंका करनेवाले जड मनुष्योंका समाधान करनेके लिये श्रुति बाह्यदृष्टिसे प्रारब्धसे देहकी उत्पत्ति कहती है । विद्वानोंको देहादिमें सत्यत्व बुझानेके लिये नहीं ॥ ४६४ ॥

परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेयमविक्रियम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥ ४६५ ॥

ब्रह्मकी झलक—अब यहांसे सात श्लोकोंमें अद्वितीय ब्रह्मका सत्यत्व प्रतिपादन करते हैं । परिपूर्ण, आदि अन्त और प्रमासे रहित, विकारसे शून्य, एकही अद्वितीय ब्रह्म है । जो यह नानाप्रकारका जगत् दीखता है वो कुछ नहीं है ऐसाही उपदेश किया जाता है ॥ ४६५ ॥

सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनमक्रियम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥ ४६६ ॥

सत्यघन, चैतन्यघन, नित्यघन, आनन्दघन, और क्रियासे हीन एकही अद्वितीय ब्रह्म है दूसरा कुछ नहीं है। सब ओरसे वोही वो, घन शब्दका अर्थ है ॥ ४६६ ॥

प्रत्यगेकरसं पूर्णमनन्तं सर्वतोमुखम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥ ४६७ ॥

जीवात्माकार, एकरस, परिपूर्ण, आदि अन्तसे रहित, सर्वव्यापक, एकही अद्वितीय ब्रह्मही सत्य है, दूसरा कुछ नहीं है ॥ ४६७ ॥

अहेयमनुपादेयमनादेयमनाश्रयम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन ॥ ४६८ ॥

अत्याज्य, अवाच्य, अग्राह्य, आश्रयसे रहित, भेदत्रय शून्य, अद्वितीय, ब्रह्म सत्य है और जितना नाना प्रकारका प्रपञ्चहै वो सब मिथ्याहै॥६८

निर्गुणं निष्कलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरञ्जनम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥ ४६९ ॥

निर्गुण, कलासे हीन, सूक्ष्म (अर्थात् इन्द्रियोंका अगोचर) विकल्पसे रहित, निरंजन (निर्मल,) एकही अद्वितीय ब्रह्म नित्य है और सब अनित्य है ॥ ४६९ ॥

अनिरूप्यस्वरूपं यन्मनोवाचामगोचरम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥ ४७० ॥

जिनके स्वरूपका निरूपण किसीसे नहीं हो सकता जो मन वचन दोनोंका अगोचर है वही एक अद्वितीय ब्रह्म नित्य है और सब प्रपञ्च मिथ्या है ॥ ४७० ॥

सत्समृद्धं स्वतः सिद्धं शुद्धं बुद्धमनीदृशम् ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ॥ ४७१ ॥

सत्यस्वरूप, स्वतःसिद्ध, स्वच्छ, बोधस्वरूप, उपमासे रहित, एकही अद्वितीय ब्रह्म है, दूसरा सब मिथ्या है ॥ ४७१ ॥

निरस्तरागा विनिरस्तभोगाः शान्ताः सुदान्ता यतयो महान्तः । विज्ञाय तत्त्वं परमेतदन्ते प्राप्ताः परां निर्वृतिमात्मयोगात् ॥ ४७२ ॥

यतिसुख—जिन महात्मालोगोंने।विषय रागको त्याग और विषयभोगकी इच्छाका त्यागकर, इन्द्रियोंका निग्रहकर यानी अपने वश करके चित्तवृत्तिका निरोध कर पमतत्त्वको जानलिया वेही यती आत्मसंयोग होनेसे परमसुखको प्राप्त होते हैं ॥ ४७२ ॥

भवानपीदं परतत्त्वमात्मनः स्वरूपमानन्दघनं विचार्य्य। विधूय मोहं स्वमनःप्रकल्पितं मुक्तः कृतार्थो भवतु प्रबुद्धः ॥ ४७३ ॥

इसे तुमभी देखो—इतनी शिक्षा देकर शंकराचार्य्यस्वामी शिष्यसे बोले कि, तुमभी परमात्माके परमतत्त्व आनन्दघनस्वरूपको विचारकरके मनके प्रकल्पित महामोहको छोड सजग हो कृतार्थतापूर्वक मुक्त हो जाओ ॥ ४७३ ॥

समाधिना साधुविनिश्चलात्मना पश्यात्मतत्त्वं स्फुटबोधचक्षुषा। निःसंशयं सम्यगवेक्षितश्चेच्छ्रुतः पदार्थो न पुनर्विकल्प्यते ॥ ४७४ ॥

समाधिसे देख—समीचीनरीतिसे निश्चलात्मक समाधिसे, विकसित बोधरूप चक्षुसे, आत्मतत्त्वको देखो।यदि संदेहरहित समीचीनरीतिसे आत्मतत्त्वको स्थिर करलोगे तो जितने श्रुतपदार्थ हैं वे फिर विकल्पको (अर्थात् संशयको) न प्राप्त होंगे ॥ ४७४ ॥

स्वस्याविद्याबन्धसंबन्धमोक्षात्सत्यज्ञानानन्दरूपात्मलब्धौ। शास्त्रं युक्तिर्देशिकोक्तिः प्रमाणं चान्तःसिद्धा स्वानुभूतिः प्रमाणम् ॥ ४७५ ॥

प्रमाण—अपने अज्ञानरूप बन्धके संबन्धसे मुक्त होनेपर सत्यज्ञान, आनंदस्वरूप, आत्मस्वरूपका लाभ होता है, इस विषयमें शास्त्र और युक्ति और आचार्यका कहा प्रमाण है, अंतःकरणसे सिद्ध हुआ अपना अनुभवभी प्रमाण है ॥ ४७५ ॥

बन्धो मोक्षश्च तृप्तिश्च चिन्तारोग्यक्षुधादयः ।
स्वेनैव वेद्या यज्ज्ञानं परेषामानुमानिकम् ॥ ४७६ ॥

अपने प्रत्यक्ष तथा दूसरेके अनुमित–क्षुधा, बन्ध, मोक्ष, तृप्ति, चिन्ता, और आरोग्य आदि ये सब आपसेही अपने मालूम होते हैं अर्थात जिसको बन्धनादिक प्राप्त हैं उसीको इनका यथार्थ ज्ञान होता है, दूसरेका दूसरेको तो, इन सबोंका ज्ञान, अनुमानसे अर्थात् बन्धआदिसे युक्त पुरुषकी चेष्टा दीखनेसे ज्ञान होता है ॥ ४७६ ॥

तटस्थिता बोधयन्ति गुरवः श्रुतयो यथा ।
प्रज्ञयैव तरेद्विद्वानीश्वरानुगृहीतया ॥ ४७७ ॥

श्रुति सम गुरु उपदेश तथा बुद्धिसे पार होनेका कथन–जैसे श्रुति अलगसे शब्दद्वारा पुरुषको बोध कराती है तैसेही गुरुभी तटस्थ होकर बोध कराते हैं इस कारण ईश्वरके केवल अनुग्रहयुक्त अपनी बुद्धिसे संसारको पार करे ॥ ४७७ ॥

स्वानुभूत्या स्वयं ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डितम् ।
संसिद्धः सम्मुखं तिष्ठेन्निर्विकल्पात्मनात्मनि ॥ ४७८ ॥

स्थिति–अपने अनुभवसे अखण्ड अपने आत्माको स्वयं जानकर संसिद्ध हो, विकल्परहित आत्मामें सदा संमुख वर्त्तमान रहना उचित है ७८

वेदान्तसिद्धान्तनिरुक्तिरेषा ब्रह्मैव जीवः सकलं जगच्च । अखण्डरूपस्थितिरेव मोक्षो ब्रह्माद्वितीये श्रुतयः प्रमाणम् ॥ ४७९ ॥

श्रुति प्रमाण–सम्पूर्ण जगत् और जीव ये सब ब्रह्मस्वरूपही हैं ऐसा वेदान्तका सिद्धान्त है । अद्वितीय ब्रह्ममें अखण्डरूपसे स्थिर रहना ही मोक्ष है । एक अद्वितीय ब्रह्म है इसमें भी श्रुतियांही प्रमाण हैं ॥ ४७९ ॥

इति गुरुवचनाच्छ्रुतिप्रमाणात्परमवगम्य सतत्त्व-
मात्मयुक्त्या । प्रशमितकरणः समाहितात्मा
क्वचिदचलवृत्तिरात्मनिष्ठितोऽभूत् ॥ ४८० ॥

कर्तव्य--श्रुतियोंके प्रमाणयुक्त इस पूर्व उक्त गुरुके वचन और अपनी युक्तिसे परमात्मतत्त्वको जानकर, इन्द्रियोंको निग्रह करके चित्त वृत्तिका निरोध करनेसे निश्चलदेह होकर आत्मामें निष्ठा करे ॥ ४८० ॥

कंचित्कालं समाधाय परे ब्रह्मणि मानसम् ।
उत्थाय परमानन्दादिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४८१ ॥

ब्रह्मानन्द अनुभव करनेवालेका कथन—पूर्वोक्तप्रकारसे कुछकालतक समाधिद्वारा मनको परब्रह्ममें स्थिर करके परमानन्दके प्राप्त होनेके बाद उठकर आनन्दसे प्रेरित हो ये वचन बोला ॥ ४८१ ॥

बुद्धिर्विनष्टा गलिता प्रवृत्तिर्ब्रह्मात्मनोरेकतयाधि-
गत्या । इदं न जानेप्यनिदं न जाने । किम्वा
कियद्वा सुखमस्त्यपारम् ॥ ४८२ ॥

अपार सुख—ब्रह्म और प्रत्यगात्मामें एकत्वबुद्धि होनेसे मेरी बुद्धिका नाश होगया, बाह्यविषयोंमें जो चित्तवृत्ति लगी हुई थी वह भी लयको प्राप्त होगई, इन्द्रियोंका विषय भी उसे नहीं समझता तथा न उसे परोक्ष ही मानता हूं । कि, वो कैसा और कितना अपार सुख है? ॥ ४८२ ॥

वाचा वक्तुमशक्यमेव मनसा मन्तुं न वा शक्यते
स्वानन्दामृतपूरपूरितपरब्रह्माम्बुधेर्वैभवम् । अम्भो-
राशिविशीर्णवार्षिकशिलाभावं भजन्मे मनो यस्यां
शांशलवे विलीनमधुनानन्दात्मना निर्वृतम् ॥४८३ ॥

वो सुख अनिर्वचनीय है—आत्मानन्दरूपी अमृतकी बाढसे हिलोरें लेते हुए परब्रह्मरूपी अगाध समुद्रका वैभव, न वाणीसे कहा जा सकता

है एवं न मनसे मननही किया जा सकता है। मेरा मन समुद्रमें गिरे-हुए ओलेकी समानता करता हुआ, जिसके अंशके अंशमें लय हुआ, अब आनन्दस्वरूप होकर परम शान्तिको प्राप्त हुआ है ॥ ४८३ ॥

क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत् ।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम् ॥ ४८४ ॥

वहां मन नहीं रहता—यह जगत् कहां गया, किसने इसको छिपा-लिया, किसमें लीन होगया, अभी मुझे दीखताथा अब नहीं दीखता, यह बडे आश्चर्य्यकी बात है ॥ ४८४ ॥

किं हेयं किमुपादेयं किमन्यत्किं विलक्षणम् ।
अखण्डानन्दपीयूषपूर्णे ब्रह्ममहार्णवे ॥ ४८५ ॥

वहां हेय उपादेय नहीं—अमृतसे परिपूर्ण ब्रह्मानन्द महासमुद्रमें कौन वस्तु त्याज्य है, क्या ग्राह्य है, क्या विलक्षण है यह कुछ भी नहीं मालूम होता है ॥ ४८५ ॥

न किंचिदत्र पश्यामि न शृणोमि न वेद्म्यहम् ।
स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि विलक्षणः ॥ ४८६ ॥

देखने सुननेका अभाव—अब यहां मैं कुछ नहीं देखता न सुनताही हूं जानता भी नहीं हूं अपनेही सदानन्दरूपसे मैं सबसे विलक्षण मालूम होता हूँ ॥ ४८६ ॥

नमो नमस्ते गुरवे महात्मने विमुक्तसङ्गाय सदु-त्तमाय। नित्याद्वयानन्दरसस्वरूपिणे भूम्ने सदा-ऽपारदयाम्बुधाम्ने ॥ ४८७ ॥

गुरुवन्दना—संगसे रहित समीचीन उत्तम नित्य अद्वितीय आन-न्दरसस्वरूपी अपारदयाके समुद्र महात्मा श्रीगुरुको पुनः पुनः नम-स्कार करता हूं ॥ ४८७ ॥

यत्कटाक्षशशिसान्द्रचन्द्रिकापातधूतभवतापजश्रमः ।
प्राप्तवानहमखण्डवैभवानन्दमात्मपदमक्षयं क्षणात् ८८

कृपासे हुई स्वरूपप्राप्तिका कथन--जिस श्रीगुरुमहाराजकी दृष्टिरूप चन्द्रमाकी सघन किरणोंका सम्बन्ध होतेही क्षण मात्रमें संसारी तापसें उत्पन्न हुए खेदसे छूटकर क्षयसे रहित अखण्ड विभवानन्द आत्मपदको मैं प्राप्त होगया ॥ ४८८ ॥

धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं विमुक्तोऽहं भवग्रहात् ।
नित्यानन्दस्वरूपोऽहं पूर्णोऽहं तदनुग्रहात् ॥४८९॥

श्रीगुरु महाराजकी कृपासे मैं नित्य आनन्दस्वरूप होगया इस लिये मैं पूर्ण हूं धन्य हूं। संसाररूपग्रहसे विमुक्त होकर कृतकृत्य होगया हूं ॥ ४८९ ॥

असङ्गोऽहमनङ्गोऽहमलिङ्गोऽहमभङ्गुरः ।
प्रशान्तोऽहमनन्तोऽहममलोऽहं चिरंतनः ॥४९० ॥

गुरुके अनुग्रहसे मैं सङ्ग, अङ्ग चिह्न, और नाशसे रहित प्रशान्त अनन्त निर्मल पुरातन ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हुआ हूँ ॥ ४९० ॥

अकर्ताहमभोक्ताहमविकारोऽहमक्रियः ।
शुद्धबोधस्वरूपोऽहं केवलोऽहं सदाशिवः ॥४९१ ॥

कर्तृत्व भोक्तृत्व विकार और क्रिया इन सबसे रहित शुद्ध बोधस्वरूप सदाशिव मैं हूँ ॥ ४९१ ॥

द्रष्टुः श्रोतुर्वक्तुः कर्तुर्भोक्तुर्विभिन्न एवाहम् । नित्यनिरन्तरनिष्क्रियनिःसीमासङ्गपूर्णबोधात्मा ॥ ४९२ ॥

द्रष्टा श्रोता वक्ता कर्त्ता भोक्ता इन सबोंसे भिन्न, नित्य, सदा क्रियासे रहित, निःसीम, असंग, पूर्णबोधस्वरूप आत्मा मैं हूं ॥ ४९२ ॥

नाहमिदं नाहमदोऽप्युभयोऽरवभासकं परं शुद्धम् ।
बाह्याभ्यन्तरशून्यं पूर्णं ब्रह्माद्वितीयमेवाहम् ॥ ४९३ ॥

न मैं यह हूं न वह हूं अर्थात् न स्थूल प्रपञ्च हूं न तो सूक्ष्म हूं किन्तु दोनोंका प्रकाशक बाह्य, आभ्यन्तरसे शून्य पूर्ण अद्वितीय परम शुद्ध ब्रह्म मैं ही हूँ ॥ ४९३ ॥

निरुपममनादितत्त्वं त्वमहमिदमद इति कल्पना-
दूरम्। नित्यानंदैकरसं सत्यं ब्रह्माद्वितीयमेवाहम् ४९४

उपमासे रहित, अनादितत्त्व, 'तू मैं यह ' इस कल्पनासे शून्य नित्य आनन्दैकरस सत्य अद्वितीय ब्रह्म मैं हूँ ॥ ४९४ ॥

नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं पुरान्तकोऽहं पुरुषो
ऽहमीशः। अखण्डबोधोऽहमशेषसाक्षी निरीश्वरो
ऽहंनिरहं च निर्ममः ॥ ४९५ ॥

मैं नारायण हूँ यानी क्षीर समुद्रशायी हूँ, नरकनामके दैत्यका अंतक मैं ही हूँ, त्रिपुरासुरका हन्ता शिव मैं ही हूँ, पुराणपुरुष ईश्वर मैं ही हूँ अख-ण्डबोध सर्वसाक्षी, ममता अहंकारसे शून्य, निरीश्वर ब्रह्म मैं ही हूँ॥४९५

सर्वेषु भूतेष्वहमेव संस्थितो ज्ञानात्मनान्तर्बहि-
राश्रयः सन् । भोक्ता च भोग्यं स्वयमेव सर्वं
यद्यत् पृथग्दृष्टमिदंतया पुरा ॥ ४९६ ॥

सब प्राणियोंके हृदयमें ज्ञानरूपसे बाहिर भीतरके आश्रयरूपसे वर्त्तमान मैं ही हूं । भोक्ता भोग्य और जो जो वस्तु इन्द्रियोंके विषया विषयके रूपमें पूर्व देखाथा सो सब मैं स्वयं ही हूं ॥ ४९६ ॥

मय्यखण्डसुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचयः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात् ॥ ४९७ ॥

अखण्डसुखका समुद्र मैं ही हूं जिसमें संसाररूप बहुतसी लहरें मायारूपी मारुतके विभ्रमसे उत्पन्न होती हैं फिर उसीमें लयको प्राप्त होजाती हैं ॥ ४९७ ॥

॥ ॐ ॥ स्थूलादिभावा मयि कल्पिता भ्रमादारोपितानुस्फुरणेन लोकैः । काले यथा कल्पकवत्सराय नर्त्वादयो निष्कलनिर्विकल्पे ॥ ४९८ ॥

जैसे निर्विकल्पक व्यापक जो एक अखण्ड काल है उसमें कल्प वत्सर अयन ऋतु आदि नानाभाव कल्पित होजाते हैं तैसेही कला और विकल्पसे शून्य हमारे परब्रह्म स्वरूपमें जो स्थूल सूक्ष्म आदि भावनाएं हैं । वे सब भ्रमसे किये गये मिथ्या आरोपकी चमकसे मनुष्योंने कल्पना करली हैं ॥ ४९८ ॥

ॐ ॥ आरोपितं नाश्रयदूषकं भवेत्कदापि मूढैरतिदोषदूषितैः । नार्द्रीकरोत्यूषरभूमिभागं मरीचिकावारिमहाप्रवाहः ॥ ४९९ ॥

आरोपितको आश्रयका अदूषक कथन—जैसे भ्रमसे देखेगये मृगतृष्णिकाके । जलप्रवाह, ऊपर भूमिको कभी नहीं सींच सकता । तैसेही अत्यन्त दोषसे दूषित मूढ जनोंसे ब्रह्ममें आरोपित जो संसार है वो संसारके आश्रय ब्रह्मको अपने दोषसे दूषित नहीं करसकता॥४९९॥

आकाशवल्लेपविदूरगोऽहमादित्यवद्भास्यविलक्षणोऽहम् । आहार्य्यवन्नित्यविनिश्चलोऽहमम्भोधिवत्पारविवर्जितोऽहम् ॥ ५०० ॥

उपमानपूर्वक ब्रह्मभाव कथन—जैसे कि, आकाश सब वस्तुओंमें रहता है परन्तु किसीके गुणसे लिप्त नहीं होता तैसे मैं विषयलेपसे दूरस्थ हूँ । सूर्य्यके सदृश प्रकाश्य घटपटादि वस्तुसे भिन्न हूँ यानी जैसे सूर्य्य विषयोंको प्रकाशित करते हैं परन्तु आप विषयोंसे भिन्न हैं तैसेही मैं हूं पर्वतोंके सदृश सदा निश्चल हूँ । समुद्र सदृश पारावारसे वर्जित हूँ । अर्थात् मेरा अन्त किसीने नहीं पाया ॥ ५०० ॥

न मे देहेन सम्बन्धो मेघेनेव विहायसः ।
अतः कुतो मे तद्धर्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः ॥ ५०१ ॥

मेरे नहीं—जैसे मेघके साथ आकाशका कुछभी सम्बन्ध नहीं है तैसें ही इस देहसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है इस कारण देहके जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति आदि धर्म मेरे कैसे होसकते हैं ॥ ५०१ ॥

उपाधिरायाति स एव गच्छति स एव कर्माणि करोति भुङ्क्ते । स एव जीर्यन् म्रियते सदाहं कुलाद्रिवन्निश्चल एव संस्थितः ॥ ५०२ ॥

उपाधिको कर्तृत्व—परब्रह्ममें जो नानाप्रकारकी उपाधियां मालूम होती हैं वेही इस लोकमें आती जाती हैं वेही सब कर्मोंको करती हैं वेही अपने किये कर्मका फल भोगती हैं वेही वृद्ध होकर मृत्युको प्राप्त होती हैं । म तो महापर्वतोंके सदृश निश्चल होकर सदा वर्तमान रहता हूं । ऐसा जीवन्मुक्तोंका कथन है ॥ ५०२ ॥

न मे प्रवृत्तिर्न च मे निवृत्तिः सदैकरूपस्य निरंशकस्य । एकात्मको यो निबिडो निरन्तरो व्योमेव पूर्णः स कथं नु चेष्टते ॥ ५०३ ॥

जीवन्मुक्तोंकी उक्ति है कि, मैं अंशसे रहित सदा एकरूपसे वर्तमान हूं मेरी किसी विषयमें न प्रवृत्ति है एवं न किसीसे निवृत्ति है क्यों कि, जो एक आत्मा होकर सदा सर्वत्र आकाश सदृश पूर्णरूपसे व्यापक होगा वो क्योंकर किसी तरहकी चेष्टा करेगा ॥ ५०३ ॥

पुण्यानि पापानि निरिन्द्रियस्य निश्चेतसो निर्विकृतेर्निराकृतेः । कुतो ममाखण्डसुखानुभूतेर्ब्रूते ह्यनन्वागतमित्यपि श्रुतिः ॥ ५०४ ॥

सप्रमाण पुण्य पापोंका अभाव कथन—इन्द्रिय, चित्त, आकृति और विकृति इन सबसे शून्य अखण्ड सुखके अनुभव करनेवाले मुझको पुण्य और पाप कहाँसे होगा क्योंकि, पुण्य पाप इन्द्रियजन्य हैं, मैं इन सबसे विलक्षण हूँ । ऐसाही श्रुतिभी कहती है कि, वो पुण्यपापोंसे रहित होजाता है ॥ ५०४ ॥

छायया स्पृष्टमुष्णं वा शीतं वा सुष्ठु दुष्ठु वा ।
न स्पृशत्येव यत्किञ्चित्पुरुषं यद्विलक्षणम् ॥ ५०५॥

दृष्टान्त—जैसे मनुष्योंकी छायासे छुवा हुआ उष्ण शीत अच्छा वेजा ये सब मनुष्योंको छूता भी नहीं मनुष्योंको तैसे शरीर आदि उपाधिके पुण्य पापरूप धर्म ईश्वरमें कभी नहीं छूते ॥ ५०५ ॥

न साक्षिणां साक्ष्यधर्मा संस्पृशन्ति विलक्षणम् ।
अविकारमुदासीनं गृहधर्मा प्रदीपवत् ॥ ५०६ ॥

साक्षी और दीपका दृष्टान्त—जैसे गृहके मालिन्य आदि धर्म, गृहके दीपकको नहीं छूते तैसेही देह आदि साक्ष्य वस्तुओंके सुख दुःख आदि धर्म विकारसे शून्य उदासीन सबसे विलक्षण साक्षी ईश्वरसे स्पर्श नहीं करते ॥ ५०६ ॥

रवेर्यथा कर्मणि साक्षिभावो वह्नेर्यथा दाहनियामकत्वम् । रज्जोर्यथारोपितवस्तुसङ्गस्तथैव कूटस्थचिदात्मनो मे ॥ ५०७ ॥

रवि वह्नि और रज्जुका दृष्टान्त—जैसे सूर्य्योदय होनेपर मनुष्योंकी कर्ममें चेष्टा होती है परन्तु सूर्य्य उन कर्मोंका केवल साक्षीमात्र है। अग्नि दाहका नियामक है, दाहका प्रवर्त्तक नहीं है क्योंकि, अग्निका स्वतः ऐसाही स्वभाव है। रज्जुमें आरोपित सर्पका संसर्ग होता है वैसाही देह आदि विषयोंमें कूटस्थ चैतन्य आत्मस्वरूप मुझको साक्षिभाव है ॥ ५०७ ॥

कर्त्तापि वा कारयितापि नाहं भोक्तापि वा भोजयितापि नाहम् । द्रष्टापि वा दर्शयितापि नाहं सोऽहं स्वयंज्योतिरनीदृगात्मा ॥ ५०८ ॥

क्रिया निषेध–पुरुषकी उक्ति है कि, मैं किसी वस्तुका कर्त्ता नहीं हूं, न किसीका कारयिताही हूं, न भोक्ताही हूं न भोजन करनेवाला हूं, न द्रष्टा हूं, न किसीका देखनेवाला हूं। सबसे विलक्षण उपमासे रहित वही स्वयंप्रकाशरूप आत्मा मैं हूं ॥ ५०८ ॥

चलत्युपाधौ प्रतिबिम्बलौल्यमौपाधिकं मूढधियो नयन्ति। स्वबिम्बभूतं रविवद्विनिष्क्रियं कर्त्तास्मि भोक्तास्मि हतोऽस्मि हेति ॥ ५०९ ॥

प्रतिबिम्बका दृष्टान्त–बडे कष्टकी बातें हैं कि, उपाधिके चञ्चल होनेसे औपाधिक प्रतिबिम्बके लौल्यकी चञ्चलताको मूढ मनुष्य आत्मामें मानते हैं जैसे कि, जलके चञ्चल होनेसे क्रियारहित सूर्य्यके जलस्थ प्रतिबिम्बको चञ्चल मानते हैं तैसेही देह आदिमें आत्माका प्रतिबिम्ब पडनेसे देहके कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि धर्मोंको आत्मामें जानते हैं इससे अधिक और क्या कष्ट होगा ॥ ५०९ ॥

जले वापि स्थले वापि लुठत्वेष जडात्मकः ।
नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्घटधर्म्मैर्नभो यथा ॥ ५१० ॥

निर्लेपपनेमें नमका दृष्टान्त–यह जो जडात्मक देह है वो जलमें गिरे, चाहे पृथ्वीमें गिरे, परन्तु देहके धर्मोंसे, ब्रह्मरूप मैं, लिप्त नहीं होता जैसे कि, घटके मालिन्यादि धर्मोंसे आकाश लिप्त नहीं है ॥ ५१० ॥

कर्तृत्वभोक्तृत्वखलत्वमत्तताजडत्वबद्धत्वविमुक्ततादयः। बुद्धेर्विकल्पा न तु सन्ति वस्तुतः स्वस्मिन् परे ब्रह्मणि केवलेऽद्वये ॥ ५११ ॥

कर्तापना आदि किसके हैं एवं किसके धर्म नहीं है--कर्तृत्व भोक्तृत्व कुटिलता उन्मत्तमा जडता बन्ध मोक्ष आदि बुद्धिके विकल्प हैं किन्तु, अद्वितीय केवल परब्रह्मस्वरूप हमारेमें ये धर्म नहीं रहते ॥ ५११ ॥

सन्तु विकाराः प्रकृतेर्दशधा शतधा सहस्रधा वापि । किं मेऽसङ्गचितस्तैर्न घनः क्वचिदम्बरं स्पृशति ५१२

दश सौ वा हजारों ही प्रकारके प्रकृतिके विकार हों, मेरी क्या हानि है क्योंकि, मैं सब विकारोंके संगसे रहित चैतन्यस्वरूप हूं, मुझको कोई विकार नहीं छूता जैसे कि मेघ आकाशको स्पर्श नहीं करता५१२

अव्यक्तादिस्थूलपर्य्यन्तमेतद्विश्वं यत्राभासमात्रप्रतीतम् ॥ व्योमप्रख्यं सूक्ष्ममाद्यन्तहीनं ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ॥ ५१३ ॥

आभास कहां है--प्रकृतिसे लेकर स्थूलदेहपर्य्यन्त सब विश्व जिसमें मिथ्या, आभासमात्र प्रतीत होता है वही, आकाशसदृश व्यापक, सूक्ष्म, आदि अन्तसे रहित, अद्वितीय ब्रह्म मैं हूं ॥ ५१३ ॥

सर्वाधारं सर्ववस्तुप्रकाशं सर्वाकारं सर्वगं सर्वशून्यम् । नित्यं शुद्धं निश्चलं निर्विकल्पं ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ॥ ५१४ ॥

मैं कोन हूं--सबका अधार सब वस्तुओंका प्रकाशक, सबका आकार, सबमें रहनेवाला, सबसे शून्य, नित्य, शुद्ध, निश्चल, विकल्पसे रहित, अद्वितीय ब्रह्म मैं हूं ॥ ५१४ ॥

यत्प्रत्यस्ताशेषमायाविशेषं प्रत्यग्रूपं प्रत्ययागम्यमानम् । सत्यज्ञानानन्तमानन्दरूपं ब्रह्माद्वैतं यत्तदेवाहमस्मि ॥ ५१५ ॥

जिसमें मायाके सम्पूर्ण कार्य्य लयको प्राप्त होते हैं ऐसा जो व्यापकरूप, प्रत्यक्ष, प्रतीतिके अगोचर, सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्दरूप, अद्वितीय, ब्रह्म है; वो मैंही हूं ॥ ५१५ ॥

निष्क्रियोऽस्म्यविकारोऽस्मि निष्कलोऽस्मि निराकृतिः । निर्विकल्पोऽस्मि नित्योऽस्मि निरालम्बोऽस्मि निर्द्वयः ॥ ५१६ ॥

मैं क्रिया और विकारसे रहित हूं । कला और आकृतिसे भी शून्य हूं । विकल्प और अवलम्बसे रहित, अद्वितीय, नित्य, ब्रह्म,मैं हूं १६

सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वयः ।
केवलाखण्डबोधोऽहमानन्दोऽहं निरन्तरम् ॥ ५१७॥

सबका आत्मा मैं हूं । जो कुछ वस्तु हैं सो हमसे भिन्न नहीं हैं । सबसे अतिरिक्तभी मैं हूं । अद्वितीय, केवल, अखण्डबोध, निरन्तर आनन्दरूप, ब्रह्म मैं ही हूं ॥ ५१७ ॥

स्वाराज्यसाम्राज्यविभूतिरेषा भवत्कृपाश्रीमहिमप्रसादात् । प्राप्ता मया श्रीगुरवे महात्मने नमो नमस्तेऽस्तु पुनर्नमोऽस्तु ॥ ५१८ ॥

गुरुसे शिष्यकी उक्ति—हे श्रीगुरुमहाराज ! आपकी कृपा व महिमाकें प्रसादसे स्वर्गके अखण्ड राज्यकी विभूति मैं पागया हूं इस कारण, आप जैसे महात्मा श्रीगुरुमहाराजको मैं वारम्वार नमस्कार करताहूं ॥१८॥

महास्वप्ने मायाकृतजनिजरामृत्युगहने
भ्रमन्तं क्लिश्यन्तं बहुलतरतापैरनुदिनम् ।
अहंकारव्याघ्रव्यथितमिममत्यन्तकृपया
प्रबोध्य प्रस्वापात्परमवितवान्मामसि गुरो ॥५१९ ॥

हे श्रीगुरुमहाराज ! मायाके बनाये हुए जन्म जरा मृत्यु, इन सबकें गहनवनमें और घूमते महास्वप्न सदृश इस संसारके अति तापोंसे रोज क्लेशपातेहुए तथा अहंकाररूपी महाव्याघ्रसे अत्यन्त व्यथित हुए मुझको, आपने अति कृपाकर महा स्वप्नकी नींदसे जगा कर बचा लिया ॥१९

नमस्तस्मै सदैकस्मै कस्मैचिन्महसे नमः ।
यदेतद्विश्वरूपेण राजते गुरुराज ते ॥ ५२० ॥

हे गुरुराज ! आपको सदा नमस्कार करता हूं। जो कि, आप अनिर्वचनीय स्वयं प्रकाश ब्रह्मरूप होकर इस विश्वरूपसे विराजमान हैं॥२०

इति नतमवलोक्य शिष्यवर्य्यं समाधिगतात्मसुखं प्रबुद्धतत्त्वम् । प्रमुदितहृदयः स देशिकेन्द्रः पुनरिदमाह वचः परं महात्मा ॥ ५२१ ॥

परमतत्त्वके जानकार आत्मसुखको प्राप्त हुए शिष्यवरकी ऐसी नम्रता देखकर प्रसन्न हृदयसे उपदेष्टा महात्मा श्रीगुरुमहाराज फिर ये वचन बोले ॥ ५२१ ॥

ब्रह्मप्रत्ययसन्ततिर्जगदतो ब्रह्मैव सत्सर्वतः पश्याध्यात्मदृशा प्रशान्तमनसा सर्वास्ववस्थास्वपि ।
रूपादन्यदवेक्षितं किमभितश्चक्षुष्मतां दृश्यते तद्वद्ब्रह्मविदः सतः किमपरं बुद्धेर्विहारास्पदम्॥५२२।

गुरुका प्रत्युत्तर—हे शिष्य ! प्रशान्त मनसे आत्मदृष्टिसे सब अवस्थाओंमें देखो कि, ब्रह्म प्रत्ययकी संतानही सब जगत् है इसलिये सब ब्रह्ममय हैं । जैसे कि, नेत्रसे चारोंतरफ देखनेसे नेत्रवान् पुरुषोंको रूपसे अन्य दूसरा कुछ नहीं दीखता तैसेही ब्रह्मज्ञानीको सच्चिदानन्द परब्रह्मसे भिन्न बुद्धिका विहारस्थान दूसरा कोई नहीं है ॥ ५२२ ॥

कस्तां परानन्दरसानुभूतिमुत्सृज्य शून्येषु रमेत विद्वान् । चन्द्रे महाह्लादिनि दीप्यमाने चित्रेन्दुमालोकयितुं क इच्छेत् ॥ ५२३ ॥

चन्द्रका दृष्टान्त—ऐसा कौन विद्वान् होगा जो परमानन्दरसके अनुभवको छोडकर मिथ्या विषयोंमें रमण करेगा जैसे कि, परमप्रकाशक

मौनरनकाविचारमहात्म

सुखप्रद चन्द्रमाके दर्शन छोडकर कौनसा मनुष्य होगा जो चित्रके लिखे चन्द्रमाको देखेगा ॥ ५२३ ॥

असत्पदार्थानुभवेन किंचिन्नह्यस्ति तृप्तिर्न च दुःखहानिः । तदद्वयानन्दरसानुभूत्या तृप्तः सुखं तिष्ठ सदात्मनिष्ठया ॥ ५२४ ॥

तृप्त होकर रहनेका कथन—असत्पदार्थोंके अनुभव करनेसे न तृप्ति होगी, न दुःखका नाशही होगा । इसकारण अद्वयानन्दरसके अनुभवसे तृप्त होकर सदा आत्मनिष्ठासे वर्त्ताव करो ॥ ५२४ ॥

स्वमेव सर्वथा पश्यन् मन्यमानः स्वमव्ययम् । स्वानन्दमनुभुञ्जानः कालं नय महामते ॥ ५२५ ॥

काल व्यतीतकरनेकी रीति—गुरुमहाराज शिष्यको शिक्षा देते हैं कि, सर्वथा आत्मस्वरूपको दीखते हुए आत्माको नाशरहित मानो, आत्मानन्द रसका भोग करते हुए ही कालको व्यतीत करो ॥ ५२५ ॥

अखण्डबोधात्मनि निर्विकल्पे विकल्पनं व्योम्नि-पुरप्रकल्पनम् । तदद्वयानन्दमयात्मना सदा-शान्तिं परामेत्य भजस्व मौनम् ॥ ५२६ ॥

आकाशनगरकी उपमा तथा मौन सेवन—विकल्पसे रहित, अखण्डबोधात्मक परब्रह्ममें जो नाना प्रकारकी कल्पना है वो सब आकाशमें मिथ्यापुरकी प्रकल्पनाके समान मिथ्या हैं इस कारण अद्वितीय आनन्दमय आत्मस्वरूपसे मौन होकर, परम शान्तिका सेवन करो॥५२६

तूष्णीमवस्था परमोपशान्तिर्बुद्धेरसत्कल्पविकल्प-हेतोः । ब्रह्मात्मना ब्रह्मविदो महात्मनो यत्राद्वयान-न्दसुखं निरन्तरम् ॥ ५२७ ॥

मौनका उपयोग—असत्कल्पविकल्पका कारण जो बुद्धि है उसे शान्ति करनेके लिये मौन अवस्थाका प्राप्त होना ब्रह्मज्ञानी महात्माके लिये

अति उत्तम है क्योंकि इसी अवस्थामें ब्रह्मस्वरूप होकर अद्वितीयानन्द-सुखका निरन्तर अनुभव होता है 'बाल्यं पाण्डित्यं च निर्वेद्य अथ मुनिः' ॥ ५२७ ॥

नास्ति निर्वासनान्मौनात्परं सुखकृदुत्तमम् ।
विज्ञातात्मस्वरूपस्य स्वानन्दरसपायिनः ॥५२८॥

मौनको परम सुखका साधन कथन—जिसने आत्मस्वरूपको जानकर आत्मानन्देक इसका पान करता है उनके वासना त्याग और मौनके धारण करनेसे अधिक दूसरी कोईभी वस्तु सुखदायक नहीं ॥ ५२८ ॥

गच्छंस्तिष्ठन्नुपविशञ्छयानो वान्यथापि वा ।
यथेच्छया वसेद्विद्वानात्मारामः सदा मुनिः ॥ ५२९॥

विद्वान् मुनिलोगोंको उचित है कि, चलते, खडे होते, बैठते और सोते हुए, सर्वथा आत्माराम होकर यथेष्टाचरणसे वास करे ॥ ५२९ ॥

न देशकालासनदिग्यमादिलक्ष्याद्यपेक्षाप्रतिबद्ध-वृत्तेः । संसिद्धतत्त्वस्य महात्मनोऽस्ति स्ववेदने का नियमाद्यवस्था ॥ ५३० ॥

नियम नहीं—जिस महात्माको आत्मतत्त्व सिद्ध होगया, चित्तकी वृत्ति प्रतिबद्ध होगई उसके लिये देश, काल, आसन, दिशा, यम, नियम आदि ध्यानकी सामग्री अपेक्षित नहीं है क्योंकि, यम, नियम आदिका फल ब्रह्मज्ञान है वो यदि होगया तो ये सब व्यर्थही हैं ॥ ५३० ॥

घटोऽयमिति विज्ञातुं नियमः कोऽन्ववेक्षते ।
विना प्रमाणसुष्ठुत्वं यस्मिन्सति पदार्थधीः ॥ ५३१॥

यह घट है इस ज्ञानके होनेकेलिये प्रमाणकी समीचीनताको छोड-कर किसी नियमकी आवश्यकता नहीं होती, तैसेही प्रमाण सौष्ठवके विना भी सत् ब्रह्मके बोध होनेसे पदार्थ बुद्धि होती ही है ॥ ५३१ ॥

अयमात्मा नित्यसिद्धः प्रमाणे सति भासते।
न देशं नापि वा कालं न शुद्धिं वाप्यपेक्षते ॥५३२॥

अपेक्षा नहीं—यह आत्मा नित्य सिद्ध है प्रमाण रहनेसे मालूम होता है। देशकाल शुद्धि इन सबकी अपेक्षा आत्मज्ञान होनेपर नहीं होती ५३२

देवदत्तोऽहमित्येतद्विज्ञानं निरपेक्षकम्। तद्वद्ब्रह्म-
विदोऽप्यस्य ब्रह्माहमिति वेदनम् ॥ ५३३ ॥

जैसा मेरा देवदत्त नाम है इस ज्ञानमें किसीकी अपेक्षा नहीं होती तैसेही ब्रह्मज्ञानीको भी मैं ब्रह्म हूँ इस ज्ञानमें किसीकी अपेक्षा नहीं होती ॥ ५३३ ॥

भानुनेव जगत्सर्वं भासते यस्य तेजसा। अना-
त्मकमसत्तुच्छं किन्तु तस्यावभासकम् ॥ ५३४ ॥

उसका प्रकाशक कोई नहीं—जैसे सूर्य्यके उदय होनेसे जगत् भासता है तैसेही जिस परब्रह्मके तेजसे आत्मासे भिन्न अनित्य झूठा जगत् भासता है तो उस ब्रह्मका अवभासक दूसरा कौन होगा? वो स्वयं आपही अपना प्रकाशक है दूसरा कोई नहीं ॥ ५३४ ॥

वेदशास्त्रपुराणानि भूतानि सकलान्यपि। येना-
र्थवन्ति तं किंनु विज्ञातारं प्रकाशयेत् ॥ ५३५ ॥

वेद शास्त्र पुराण और सब भूतमात्र ये सब वस्तु जिससे अर्थवान् होते हैं उस विज्ञाता ईश्वरका दूसरा कौन प्रकाशक होगा ॥ ५३५ ॥

एष स्वयंज्योतिरनन्तशक्तिरात्माऽप्रमेयः सक-
लानुभूतिः। यमेव विज्ञाय विमुक्तबन्धो जयत्ययं
ब्रह्मविदुत्तमोत्तमः ॥ ५३६ ॥

यह आत्मा स्वयंप्रकाश है किसीने इसकी शक्तिका अन्त नहीं

पाया । ब्रह्मज्ञानी इस आत्माको जाननेसे बन्धसे मुक्त होकर सबसे उत्तम होजाता है ॥ ५३६ ॥

न खिद्यते नो विषयैः प्रमोदते न सज्जते नापि विरज्यते च । स्वस्मिन्सदा क्रीडति नन्दति स्वयं निरन्तरानन्दरसेन तृप्तः ॥ ५३७ ॥

ज्ञानीकी दशा—ब्रह्मज्ञान होनेपर योगी लोग, खेदको नहीं प्राप्त होते । विषयके प्राप्त होनेसे प्रसन्न भी नहीं होते । किसीमें आसक्त भी नहीं हुआ करते हैं । किसीसे विरक्त भी नहीं हैं । वे केवल आत्मरूपको पा स्वयं सदा आनन्दरससे तृप्त होकर अपनेमें विहार करते हैं, सुखी रहते हैं ५३७

क्षुधां देहव्यथां त्यक्त्वा बालः क्रीडति वस्तुनि । तथैव विद्वान् रमते निर्ममो निरहं सुखी ॥ ५३८ ॥

जैसे भूख प्यास त्याग और देहकी व्यथाको छोडकर, बालक वस्तुकी क्रीडामें आसक्त होता है, तैसेही विद्वान् पुरुप ममता अहंकारको छोडकर सुखी हो विहार करता है ॥ ५३८ ॥

चितनशून्यमदैन्यभैक्ष्यमशनं पानं सरिद्वारिषु स्वातन्त्र्येण निरंकुशा स्थितिरभीर्निद्रा श्मशाने वने । वस्त्रं क्षालनशोपणादिरहितं दिग्वास्तुशय्या मही संचारो निगमान्तवीथिषु विदां क्रीडापरे ब्रह्मणि ५३९

ब्रह्मज्ञानीका स्वभाव—चिन्ता और दीनताको त्याग कर समयपर भिक्षा लेकर भोजन करे । नदियोंमें जल पीवे । स्वतन्त्र होकर जहां चित्त लगे वहीं बैठा रहे । भयरहित होकर श्मशान भूमिमें चाहे वनमें निद्रा करे । वस्त्र जो रहें, उन्हें धोने सुखानेका यत्न न करे अथवा नंगाही रहे, भूमिकी शय्या करे वेद वेदान्तरूप वन वीथियोंमें भ्रमण करे और परब्रह्ममें क्रीडा करता रहे; इस रीतिसे आत्मज्ञानीको विहार करना चाहिये५३९.

विमानमालम्ब्य शरीरमेतद्भुनक्त्यशेषान्विषया-
नुपस्थितान् । परेच्छया बालवदात्मवेत्ता योऽव्य-
क्तलिंगोऽननुसक्तबाह्यः ॥ ५४० ॥

आत्मज्ञानी महात्मा पुरुष, शरीररूप एक विमानका अवलम्ब करके विना यत्नके उपस्थित संपूर्ण विषयोंका, पराई इच्छासे भोग करते हैं जैसे कि, बालक सब विषयोंको पराये कहनेके माफिक स्वीकार करलेते हैं परन्तु वे ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूपको छिपाकर किन्ही बाह्य विषयोंमें अनुराग नहीं रखते ॥ ५४० ॥

दिगम्बरो वापि च साम्बरो वा त्वगम्बरो वापि
चिदम्बरस्थः । उन्मत्तवद्वापि च बालवद्वा पिशा-
चवद्वापि चरत्यवन्याम् ॥ ५४१ ॥

विचरण—चैतन्यरूपही वस्त्रधारण करके ब्रह्मज्ञानी महात्मा, कभी नंगे होजाते हैं, कभी वस्त्रभी पहिन लेते हैं, कभी चर्मांम्बरकोही धारण किये रहते हैं, कभी उन्मत्त तथा बालकके समान एवं पिशाचके समान होकर भूमण्डलमें विचरते हैं ॥ ५४१ ॥

कामान्निष्कामरूपी संश्चरत्येकचरो मुनिः । स्वात्म-
नैव सदा तुष्टः स्वयं सर्वात्मना स्थितः ॥ ५४२ ॥

ज्ञानी पुरुष आत्मस्वरूपमें सदा संतुष्ट तथा सर्वात्मस्वरूप होकर, निष्कामरूपसे सब कामको करते भी हैं पर अपने मनको सदा ब्रह्ममेंही मग्न रखते हैं (दशा उनकी ईशावास्यकी ही रहती है) ॥ ५४२ ॥

क्वचिन्मूढो विद्वान् क्वचिदपि महाराजविभवः
क्वचिद्भ्रान्तः सौम्यः क्वचिदजगराचारकलितः ।
क्वचित्पात्रीभूतः क्वचिदवमतः क्वाप्यविदित-
श्चरत्येवं प्राज्ञः सततपरमानन्दसुखितः ॥ ५४३ ॥

ब्रह्मवित् महात्मा कहीं कभी मूढ समान दिखाई देते हैं, कभी विद्वान् हो बैठते हैं, कहीं महाराजोंका विभव भोगते हैं, कहीं भ्रान्त-रूपसे दिखाई देते हैं, तो कहीं सौम्य रूप होजाते हैं। कहीं अजगरोंकेसे आचरणोंवाले होते हैं कहीं महात्मा बनकर पूजित होते हैं कहीं अनादर भी पाते हैं, कहीं छिपे रहते हैं, कहीं प्रकट रहते हैं, इस प्रकार वे ज्ञानी महात्मा सदा परमानन्द सुखसे सुखी होकर विचरते हैं ॥ ५४३ ॥

निर्धनोऽपि सदा तुष्टोऽप्यसहायो महाबलः ।
नित्यतृप्तोऽप्यभुञ्जानोऽप्यसमः समदर्शनः ॥५४४॥

जीवन्मुक्तके व्यवहार--ब्रह्मज्ञानी यद्यपि निर्धन हों तोभी सदा संतुष्ट रहते हैं, उनका कोई सहायक नहीं रहता तोभी महाबलिष्ठ रहते हैं, भोजन नहीं करते तोभी सदा तृप्तही रहते हैं । यद्यपि वे सबके तुल्य नहीं हैं तोभी सबको अपने समानही दीखते हैं ॥ ५४४ ॥

अपि कुर्वन्नकुर्वाणश्चाभोक्ता फलभोग्यपि ।
शरीर्यप्यशरीर्येष परिच्छिन्नोऽपि सर्वगः ॥५४५ ॥

होते हुएभी नहीं--यद्यपि ज्ञानी पुरुष बाह्य कर्म करते हैं तो भी अपने से कुछ नहीं करते, यद्यपि अभोक्ता हैं, तोभी फल भोगते हैं, शरीरी हैं तथापि अपनेको शरीरी नहीं मानते हैं, परिच्छन्न हैं पर अपनेको सर्व व्यापकही मानते हैं ॥ ५४५ ॥

अशरीरं सदा सन्तमिमं ब्रह्मविदं क्वचित् ।
प्रियाप्रिये न स्पृशतस्तथैव च शुभाशुभे ॥ ५४६॥

श्रुतिप्रमाण--"अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" यह छा०-८-१२-१ की श्रुति है । इस श्लोकमें इसी श्रुतिका अर्थ है । प्रियाप्रिये-प्रिय, सुख और अप्रिय दुख तथा इन दोनोंके कारण शुभ (पुण्य) और अशुभ (पाप) ये सब, अशरीरम्--अपनेको शरीरी न मानने-वाले, अमृतम्--जीवन्मुक्तको, न--नहीं, स्पृशतः--छू सकते । वाव--

यह बात बिलकुल निश्चित है।' सन्तम् ' का विवरण 'इमं ब्रह्मविदम्' इस ब्रह्मवेत्ता जीवन्मुक्तको, यह अर्थ किया है। इस कथनसे 'शरीरी भी अशरीरी है ' इस पूर्ववृत्तकी पुष्टि होती है। यानी देहाभिमानीको सुख दुख हैं, शरीरी होते हुएभी अशरीरी जैसे रहनेवाले जीवन्मुक्तोंके लिये प्रिय अप्रिय सुख और दुख इनका स्पर्श नहीं हो सकता ॥ ५४६ ॥

स्थूलादिसम्बन्धवतोऽभिमानिनः सुखं च दुःखं च शुभाशुभे च। विध्वस्तबन्धस्य सदात्मनो मुनेः कुतः शुभं वाप्यशुभं फलं वा ॥ ५४७ ॥

क्यों नहीं--इस स्थूल देहसे सम्बन्ध करनेवाले जो अभिमानी पुरुष हैं उन्हींको सुख, दुःख, शुभ और अशुभ होते हैं जो इस स्थूल देहके बन्धसे मुक्त होगये उनको शुभ अशुभका फल कहांसे होगा ५४७

तमसा ग्रस्तवद्भानादग्रस्तोऽपि रविर्जनैः।
ग्रस्त इत्युच्यते भ्रान्त्या ह्यज्ञात्वा वस्तुलक्षणम् ५४८
तद्वद्देहादिबन्धेभ्यो विमुक्तं ब्रह्मवित्तमम्।
पश्यन्ति देहवन्मूढाः शरीराभासदर्शनात् ॥५४९॥

मूढोंकी दृष्टि--जैसे राहु सूर्य्यका ग्रास नहीं करता किन्तु मनुष्योंकी दृष्टिमें भेद उत्पादन करता है। इस यथावद्वस्तुको न जानकर मनुष्य सूर्य्यको ग्रस्त कहते हैं। तैसेही देहादि बन्धसे विमुक्त उत्तम ब्रह्म· ज्ञानीको, शरीरके आभासके देखनेसे, मूढजन देहसे बद्धकी तरह देखते हैं ॥ ५४८ ॥ ५४९ ॥

अहिनिर्ल्वयनीवायं मुक्त्वा देहं तु तिष्ठति।
इतस्ततश्चाल्यमानो यत्किञ्चित्प्राणवायुना ॥ ५५०॥

जैसे सर्प अपनी काँचलीको छोडकर शरीरमेंही रहे आते हैं प्राणवा-युसे चंचलताको पा थोडाबहुत इधर उधरभी जाते आते रहते हैं ॥५५०॥

स्रोतसा नीयते दारु यथा निम्नोन्नतस्थलम् ।
दैवेन नीयते देहो तथा कालोपभुक्तिषु ॥ ५५१ ॥

प्रारब्धसे देहभोग कथन--जैसे कि, जलके प्रवाहसे काष्ठ नीची ऊँची जमीनपर जाता आता रहता है तैसेही प्रारब्ध कर्मसे यह देहभी कालके उपभोग आदिमें प्राप्त होता है ॥ ५५१ ॥

प्रारब्धकर्मपरिकल्पितवासनाभिः संसारिवच्चराति भुक्तिषु मुक्तदेहः । सिद्धः स्वयं वसति साक्षिवदत्र तूष्णीं चक्रस्य मूलमिव कल्पविकल्पशून्यः॥५५२॥

प्रारब्धकी वासना--जैसे पहियेकी धुरा पहियेके घूमते रहनेपर भी अचल बनी रहती है इसी तरह जीवन्मुक्तभी प्रारब्ध कर्मकी रची हुई वासनाओंकी प्रेरणासे संसारीकी तरह प्रारब्धके फल भोगमें प्रवृत्त होता है। वो स्वयं सिद्ध, संकल्प विकल्पोंसे रहित होकरही साक्षीकी तरह इस संसारमें निर्द्वन्द रहता है ॥ इसी वातको व्यासदेवजीने वेदान्त ब्रह्मसूत्रमें कहा है कि, 'भोगेन तु इतरे क्षययित्वाथ ब्रह्म संपद्यते' यानी जीवन्मुक्त भी प्रारब्ध भोगोंको भोगकरही कैवल्य-मुक्ति पाते है॥ ५५२ ॥

नैवेन्द्रियाणि विषयेषु नियुंक्त एष नैवोपयुंक्त उप-दर्शनलक्षणस्थः । नैव क्रियाफलमपीपदवेक्षते स सानन्दसान्द्ररसपानसुमत्तचित्तः ॥ ५५३ ॥

ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंका कार्य्य—आत्मरूपमें स्थिर होकर विषयोंमें इन्द्रियोंको न कभी नियुक्त करते हैं एवं न निवृत्तही करते हैं तथा क्रियाके फलकी तरफ भी दृष्टि नहीं देते, केवल ब्रह्मानन्दरसका पान करके मत्तके समान, अच्छीतरह विहरते हैं ॥ ५५३ ॥

लक्ष्यालक्ष्यगतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत्केवलात्मना ।
शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः ॥ ५५४ ॥

वो स्वयं शिव है—जो लक्ष्य अलक्ष्य वस्तुओंकी गतिको त्यागकर केवल एक आत्मस्वरूपसे सदा स्थिर होते हैं वे साक्षात् शिवस्वरूप हैं वेही ब्रह्मज्ञानियोंमें उत्तम हैं ॥ ५५४ ॥

जीवन्नेव सदा मुक्तः कृतार्थो ब्रह्मवित्तमः ।
उपाधिनाशाद्ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति निर्द्वयम् ॥ ५५५ ॥

उपाधिकेनाशकी उपयोगिता—जिसको चित्तसे उपाधि नष्ट होगई वही उत्तम ब्रह्मवेत्ता है, वही अद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्मको प्राप्त होता है वोही सदा जीवान्मुक्त और कृतार्थ है ॥ ५५५ ॥

शैलूषो वेषसद्भावाभावयोश्च यथा पुमान् ।
तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः सदा ब्रह्मैव नापरः ॥ ५५६ ॥

दृष्टान्त—जैसे नट नानाप्रकारके स्वरूपोंकी रचना करने और न करनेसे उसका पुरुषरूप सब अवस्थाओंमें रहता है तैसेही ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ जो हैं वे चाहें किसीभी अवस्थामें वर्त्तमान रहें, परन्तु ब्रह्मरूपही हैं ५५६

यत्र क्वापि विशीर्णं सत्पर्णमिव तरोर्वपुः पततात् ।
ब्रह्मीभूतस्य यतेः प्रागेव तच्चिदग्निना दग्धम् ॥५५७॥

दृष्टान्तपूर्वक देहपातसे क्षतिका अभाव कथन—जैसे पत्ता सूखनेपर वृक्षसे जहां तहां गिरपडता है तैसेही ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हुए यतिका शरीर, पूर्वसेही चैतन्यरूप अग्निसे दग्ध रहता है इस कारण चाहे कहीं भी गिरके शीर्ण होजावे इसमें ज्ञानीकी कोई क्षति नहीं होती ॥५५७॥

सदात्मनि ब्रह्मणि तिष्ठतो मुनेः पूर्णाऽद्वयानन्द-
मयात्मना सदा । न देशकालाद्युचितप्रतीक्षा त्व-
ङ्मांसविट्पिण्डविसर्जनाय ॥ ५५८ ॥

देहत्यागमें देशकालकी अपेक्षा नहीं—पूर्ण अद्वयानन्दमय होकर सच्चिदानन्दात्मक परब्रह्ममें सदा वर्त्तमान जो मुनि हैं उनको त्वचा मांस विष्ठा आदिसे पूर्ण, इस देह पिण्डके त्याग करनेके लिये पवित्र

देश काल आदिके प्रतीक्षा नहीं है क्योंकि, वे तो स्वयंही सदा मुक्त हैं "अतश्चायने दक्षिणेऽपि" ॥ ५५८ ॥

ॐ देहस्य मोक्षो नो मोक्षो न दण्डस्य कमण्डलोः ।
अविद्या हृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्षो यतस्ततः ॥५५९॥

क्योंकि, ग्रन्थिमोक्षही मोक्ष है--देहका मोक्ष होना मोक्ष नहीं है, न दण्डकमण्डलुका त्याग करना मोक्ष है किन्तु; हृदयकी अज्ञानरूपी ग्रंथिका न होना ही मोक्ष है ॥ ५५९ ॥

कुल्यायामथ नद्यां वा शिवक्षेत्रेऽथ चत्वरे ।
पर्णं पतति चेत्तेन तरोः किन्नु शुभाशुभम् ॥५६०॥

किसी तालावमें, चाहे किसी नदीमें, चाहे काशीक्षेत्रमें अथवा किसी अच्छे चौंतरेपर कहींभी वृक्षका पत्ता गिरजाय उसके गिरनेसे वृक्षकी कोई हानि लाभ नहीं है । तैसेही ब्रह्मज्ञानीका शरीर चाहे कहीं भी पतित हो, पर ज्ञानीको इसमें कोई हर्षविषाद नहीं होता ॥ ५६० ॥

पत्रस्य पुष्पस्य फलस्य नाशवद्देहेन्द्रियप्राण-
धियां विनाशः । नैवात्मनः स्वस्य सदात्मकस्या-
नन्दाकृतेर्वृक्षवदस्ति चैषः ॥ ५६१ ॥

जैसे पत्र पुष्प और फलका नाश होनेपर वृक्षका नाश नहीं होता, तैसेही देह इन्द्रिय प्राण बुद्धि इन सबका विनाश होनेसेभी आनन्दरूप आत्माका कभी नाश नहीं होता ॥ ५६१ ॥

प्रज्ञानघन इत्यात्मलक्षणं सत्यसूचकम् ।
अविद्योपाधिकस्यैव कथयन्ति विनाशनम् ॥५६२॥

आत्मलक्षणोंका कथन--प्रज्ञान घन यह आत्माका सत्यसूचक लक्षण किया है इसे अविद्याकी उपाधिवाले जीवके, जीव भावका नाशक कहते हैं । प्रज्ञानघन यानी घनप्रज्ञान सुपुप्त जीव तथा सब ओरसे विज्ञानमात्र ब्रह्मको कहते हैं ॥ ५६२ ॥

अविनाशी वाऽरेऽयमात्मेति श्रुतिरात्मनः ।
प्रब्रवीदविनाशित्वं विनश्यत्सु विकारिषु ॥ ५६३ ॥

श्रुतिबोध्य—विकारी जो देह आदि स्थूल सूक्ष्म पदार्थ हैं इन सबका नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता बृ०—' अविनाशी वाऽरेऽयमात्मा' यह श्रुति आत्माको अविनाशी कहती है ॥ ५६३ ॥

पाषाणवृक्षतृणधान्यकडंगराद्या दग्धा भवन्ति हि मृदेव यथा तथैव । देहेन्द्रियासुमनआदिसमस्तदृश्यं ज्ञानाग्निदग्धमुपयाति परात्मभावम् ॥ ५६४ ॥

दृश्यका ब्रह्मभावकथन—जैसे पाषाण, वृक्ष, तृण, धान्य, भुसा ये सब जलजानेपर मृत्तिकास्वरूप होजाते हैं तैसेही देह, इन्द्रिय, प्राण, मन आदि जितने दृश्य पदार्थ हैं वे सब ज्ञान रूपी अग्निसे जलाये जाने पर परमात्मस्वरूपकोही प्राप्त होजाते हैं ॥ ५६४ ॥

विलक्षणं यथा ध्वान्तं लीयते भानुतेजसि ।
तथैव सकलं दृश्यं ब्रह्मणि प्रविलीयते ॥ ५६५ ॥

दृष्टान्त—जैसे विलक्षण अन्धकार सूर्यके उदय होनेपर सूर्य्यहीमें लय होजाता है तैसेही सब दृश्य पदार्थ ब्रह्मज्ञानके होनेपर ब्रह्महीमें लय होजाते हैं ॥ ५६५ ॥

घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्फुटम् ।
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम् ॥ ५६६ ॥

कब ब्रह्म होता है—जैसे घटके नाश होनेपर घटाकाश महाकाशस्वरूपही हो जाता है तैसेही उपाधिके नाश होनेपर ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मस्वरूपही होजाता है ॥ ५६६ ॥

क्षीरं क्षीरे यथा क्षिप्तं तैलं तैले जलं जले ।
संयुक्तमेकतां याति तथात्मन्यात्मविन्मुनिः ॥५६७॥

कैसे मिलकर एक होता है--जैसे दूधको दूधमें मिलानेसे, तेलको तेलमें मिलानेसे, जलको जलमें मिलानेसे एकही रूप होजाता है। तैसेही ज्ञानी मनुष्यभी आत्मज्ञान होनेपर आत्मस्वरूपही होजाते हैं ॥ ५६७ ॥

एवं विदेहकैवल्यं सन्मात्रत्वमखण्डितम् ।
ब्रह्मभावं प्रपद्यैष यतिर्नावर्त्तते पुनः ॥ ५६८ ॥

अपुनरावृत्ति—यतिलोग इसप्रकार देहका त्याग होनेपर विदेह कैवल्यरूप अखण्ड सत्तामात्र ब्रह्मभावको प्राप्त होकर फिर इस संसारमें नहीं आते॥

सदात्मैकत्वविज्ञानदग्धाविद्यादिवर्ष्मणः ।
अमुष्य ब्रह्मभूतत्वाद्ब्रह्मणः कुत उद्भवः ॥ ५६९ ॥

इसमें कारण--आत्मामें एकत्वज्ञान होनेपर जब अज्ञानका शरीर दग्ध होजाता है तो ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मरूपही होजाता है ब्रह्मका फिर उद्भव कैसे होगा ? अतः उसका भी उद्भव नहीं होता ॥ ५६९ ॥

मायाक्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न स्तः स्वात्मनि वस्तुतः।
यथा रज्जौ निष्क्रियायां सर्पाभासविनिर्गमौ ॥ ५७०

बन्धमोक्षक्याहैं—जैसे कि, क्रियासे रहित रज्जुमें सर्पका भ्रम होताहै फिर वह भ्रम निवृत्तभी हो जाताहै परन्तु रज्जु जैसाका तैसाही रहताहै, तैसेही मायाके कार्य्यही बंध मोक्ष है वे आत्मामें कभी नहीं होते आत्मा सदा एकहीरूपसे रहताहै ॥ ५७० ॥

आवृत्तेः सदसत्त्वाभ्यां वक्तव्ये बन्धमोक्षणे ।
नावृत्तिर्ब्रह्मणः काचिदन्याभावादनावृतम् ।
यद्यस्त्यद्वैतहानिः स्याद्द्वैतं नो सहते श्रुतिः ॥५७१॥

अज्ञानकी जो आवरणशक्ति है उसीके रहनेसे बन्ध होता है और आवरणशक्तिका अभाव होनेसे मोक्ष होजाता है, उस आवरणशक्तिका ब्रह्ममें अभाव होनेसे ब्रह्मके बन्ध मोक्ष नहीं होते क्यों कि, ब्रह्मसे कुछ

भी जुदा नहीं है। इस कारण ढका हुआ नहीं हैं यदि ब्रह्म भी आवरण-शक्तिसे आवृत हो तो ब्रह्ममें अद्वैत सिद्ध न होगा और ब्रह्ममें द्वैतभाव होना श्रुतिविरुद्ध है ॥ ५७१ ॥

बन्धं च मोक्षं च सदैव मूढा बुद्धेर्गुणं वस्तुनि कल्पयन्ति। दृगावृतिं मेघकृतां यथा रवौ यतोऽद्वयासंगचिदेतदक्षरम् ॥ ५७२ ॥

इन्हें मूढकल्पनामात्र कथन—बुद्धिके गुण जो बन्ध मोक्ष हैं मूढ मनुष्य उन अद्वयानन्द परब्रह्मवस्तुमें वैसेही कल्पना करते है जैसे कि, मेघसे अपनी दृष्टिके आवृत होजानेसे सूर्य्यको आवृत हुआ मानते हैं। ब्रह्म तो भेदसे रहित असंग चैतन्यरूप तथा नाशसे रहित है ऐसे ब्रह्मके बन्ध मोक्ष कैसे हो सकते हैं ॥ ५७२ ॥

अस्तीतिप्रत्ययो यश्च यश्च नास्तीति वस्तुनि। बुद्धेरेव गुणावेतौ नतु नित्यस्य वस्तुनः ॥ ५७३ ॥

बुद्धिका है नित्यवस्तुका नहीं—आत्मवतुमें जो अस्ति और नास्ति ऐसी जो प्रतीति है ये दोनों बुद्धिकेही गुण हैं। नित्य वस्तु आत्माहै ये उसके गुण नहीं हैं क्योंकि, आत्मा अस्तिनास्ति इन दोनों प्रतीतियोंसे विलक्षण है ॥ ५७३ ॥

अतस्तौ मायया क्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न चात्मनि। निष्कले निष्क्रिये शान्ते निरवद्ये निरञ्जने। अद्वितीये परे तत्त्वे व्योमवत्कल्पना कुतः ॥५७४॥

मायाकल्पित हैं—इस कारण बन्ध मोक्ष ये दोनों मायाके कार्य्य हैं। कला क्रियासे रहित, शान्त, निरवद्य, निरञ्जन, अद्वितीय, आकाशवत् निर्लेप जो परब्रह्म है उनमें ये कैसे रहेंगे ॥ ५७४ ॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बन्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ५७५ ॥

परमार्थ क्या है—आत्मवस्तुमें न कोई विरोध है, न उत्पत्ति है, न बन्ध है, न साधक है, न मोक्षकी इच्छा है, न मुक्त है, यही पारमार्थिक-ज्ञानका स्वरूप है ॥ ५७५ ॥

सकलनिगमचूडास्वान्तसिद्धान्तरूपं परमिदमतिगुह्यं दर्शितं ते मयाद्य । अपगतकलिदोषं कामनिर्मुक्त-बुद्धिस्वसुतवदसकृत्त्वांभावयित्वा मुमुक्षुम् ॥५७६ ॥

गुरुके उपदेशदेनेका कारण—कलिके दोषसे विनिर्मुक्त, कामनासे रहित, मोक्षकी इच्छा करनेवाले, तुमको अपने पुत्रके समान जानकर, सम्पूर्ण वेदका शिरोभाग एवं अपने हृदयका परम सिद्धान्त तथा अति गोपनीय जो विषय था वो सब अभी मैंने दिखादिया है ॥ ५७६ ॥

इति श्रुत्वा गुरोर्वाक्यं प्रश्रयेण कृतानतिः ।
स तेन समनुज्ञातो ययौ निर्मुक्तबन्धनः ॥ ५७७ ॥

शिष्यका बन्धनरहित होना—गुरुके ऐसे वचन सुनकर शिष्यने बडी नम्रतासे उन्हें प्रणाम किया तथा गुरुकी आज्ञा पाकर संसारबन्धसे मुक्त हो अपने स्थानको चलागया ॥ ५७७ ॥

गुरुरेव सदानन्दसिन्धौ निर्मग्नमानसः ।
पावयन् वसुधां सर्वां विचचार निरन्तरः ॥ ५७८ ॥

गुरुका विचरना—गुरुभी सच्चिदानन्द ब्रह्ममें मग्नमानस होकर सम्पूर्ण पृथिवीको पवित्र करते हुये, निरन्तर विचरने लगे ॥ ५७८ ॥

इत्याचार्य्यस्य शिष्यस्य संवादेनात्मलक्षणम् ।
निरूपितं मुमुक्षूणां सुखबोधोपपत्तये ॥ ५७९ ॥

अनुबन्ध चतुष्टय—मुमुक्षुपुरुषको थोडेही परिश्रमसे आत्मबोध होजाय इसलियेआचार्य्य शिष्यके संवादकेबहानेसे आत्मलक्षणका निरूपण करादिया है, प्रतिपादक-श्री शंकराचार्य स्वामी तथा प्रतिपाद्य-आत्मलक्षण है।इसका प्रयोजन-बोध होनाही है । मुमुक्षुगण अधिकारी हैं५७९

हितमिममुपदेशमाद्रियन्तां विहितनिरस्तसमस्त-
चित्तदोषाः । भवसुखविरताःप्रशान्तचित्ताःश्रुति-
रसिका यतयो मुमुक्षवो ये ॥ ५८० ॥

आभिलाषा--जिन्होंने चित्तके सारे दोष दूरकर दिये हैं ऐसे पुरुषों तथा संसारी सुखोंसे विरक्त हुए, शान्तचित्तवाले, एवं श्रुतियोंके प्रेमी, संन्यासी वा मुमुक्षु लोगोंको इस हितकारी उपदेशका अवश्यही आदर करना चाहिये ॥ ५८० ॥

संसाराध्वनि तापभानुकिरणप्रोद्भूतदाहव्यथाखिन्नानां
जलकांक्षया मरुभुवि श्रान्त्या परिभ्राम्यताम् ।
अत्यासन्नसुधाम्बुधिं सुखकरं ब्रह्माद्वयं दर्शय-
त्येषा शङ्करभारती विजयते निर्वाणसंदायिनी॥५८१॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्यगोविन्दभगवत्पूज्यपाद-
शिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्कृतो विवेकचूडामणिः समाप्तः ॥

मंगल—संसारपथपर चलते हुए तापरूपी सूर्यकी किरणोंकी गरमीसे बढी हुई दाहकी व्यथासे दुःखी हुए, मरुभूमिमें पानीके लिये घूमते घूमते थकावटको प्राप्त हुए पुरुषोंके लिये उनके अत्यन्त समीपमें वर्तमान सुखकर अमृतके समुद्र जैसे ब्रह्मैक्यको दिखाती हुई यह निर्वाण देनेवाली श्रीशङ्कराचार्य्यजी महाराजकी भारती सदा विजयको प्राप्त हो ॥ ५८१ ॥

पञ्चेषुनभशीतांशुसम्मिते वैक्रमेऽब्दके ।
वाक्यपुष्पावलिरियं शिवयोरर्पिता मया ॥ १ ॥

विवेकचूडामणिकी भाषाटीकारूपी वाक्पुष्पावलि, १९०५ में शिवपार्वतीजीके चरणोंमें अर्पित करदी ॥ १ ॥

निधिगजनिधिपृथ्वीसंमिते (१९८९) वैक्रमाब्दे
तपसि तरणिवारे कृष्णपक्षे चतुर्थ्याम् ।
कृतमधिकृतबुद्ध्या माधवाचार्यविद्भिः
भवतु सुजनतुष्ट्यै शोधनं वर्द्धनं तत् ॥ १ ॥

रामपुर (छपरा) निवासी पं० पृथ्वीचन्द्रजीके सुपुत्र काशीके प्रसिद्ध मीमांसक स्वामी-मनीषानन्दजीके शिष्य पं०-चन्द्रशेखरकी बनाई तथा अनेकग्रन्थोंके लेखक सर्वतन्त्रस्वतंत्र रिसर्च स्कालर पं०-माधवाचार्यकी संशोधित परिवर्धित और परिवर्तित-की हुई भाषाटीका समाप्त हुई ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥



पुस्तक मिलनेका ठिकाना—

गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,
"लक्ष्मीवेंकटेश्वर" स्टीम्-प्रेस,
कल्याण—बंबई.

खेमराज श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेंकटेश्वर" स्टीम्--प्रेस,
खेतवाडी—बंबई.

जाहिरात.



	की. रु. आ.
अपरोक्षानुभूति—श्रीशङ्कराचार्यकृत और स्वामी श्रीविद्यारण्य-मुनिकृत दीपिका नामक संस्कृत टीका तथा श्रीयुत पं० रामस्वरूपजीकृत भाषाटीकासहित	०—१२
अष्टावक्रगीता—श्रीअष्टावक्रमुनिप्रणीत भाषाटीकासहित	१—३
अवधूतगीता—मूल—श्रीदत्तात्रेयप्रणीत रेशमी गुटका...	०—७
अवधूतगीता—काशीनिवाशी स्वामी परमानन्दजीकृत भाषाटीकासहित	१—८
अध्यात्मप्रदीपिका—मूल श्रीअष्टावक्रमुनिविरचित, अत्युत्तम ज्ञानमय वेदान्तोपदेश.	०—६
पुरञ्जनोपाख्यान—भाषाटीकासहित	०—६
ब्रह्मसूत्र (शारिरक) शांकरभाष्यसहित	१२—०
ब्रह्मसूत्र (शारिरक) " वेदान्तदर्शन "—प्रभुदयालकृत वेदान्ततत्त्वप्रकाश नामक भाषाटीकासहित	४—१२
ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन)—शांकरभाष्यानुसार सरल भाषाटीकासहित	१—८
भगवद्गीता—चिद्घनानन्दी "गूढार्थदीपिका" भाषाटीकासहित	८—०
भक्तिमीमांसादर्शन—महर्षिशाण्डिल्यऋषिप्रणीत, संस्कृत टीका तथा भाषाटीकासहित	०—८
भक्तिदर्शन—महर्षि शाण्डिल्यप्रणीत। निगमागमी-भाषाभाष्य सहित। इसमें भक्तिविषयक सभी बातोंका वर्णन है	०—१२
महावाक्यविवरण—स्वामी रामकृष्णानन्दगिरिकृत भाषाटी-सहित	०—१०
विषयवाक्यदिपिका—अर्थात् विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त श्रीभा-ष्योदयाहृतोपनिषद्वाक्यविवरण, श्रीरंगरामानुजमुनि-प्रणीत टिप्पणीसहित	२—०

	की. रु. आ.
वेदान्तपरिभाषा—शिखायणि और मणिप्रभा नामक संस्कृत टीकाद्वयसहित	३—८
वेदान्तपरिभाषा—अर्थदिपिका नामक संस्कृतटीकासहित	१—८
वेदान्तपरिभाषा—निर्मल पं० स्वामी गोविन्दसहित सरल भाषाटीकासहित	१—४
वेदान्तसार—संस्कृत मूल और संस्कृत टीका तथा भाषाटीका-सहित। इसमें संपूर्ण वेदान्तका तत्त्वरूप सार वर्णित है	१—०
वेदान्तसंज्ञा—भाषाटीकासहित	०—८
वेदान्तग्रन्थपञ्चक—(शङ्कराचार्यकृत) संस्कृतटीकासहित	०—८
वेदान्तग्रन्थमञ्चक—वाक्यसुधा १, वेदान्तसिद्धान्त २, निर्वाणपञ्चक ३, मनीषापञ्चक ४, ब्रह्माविदाशीर्वादपद्धति ५	०—८
वेदान्तरामायण—भाषाटीकासहित	१—८
वेदप्रामाण्यचन्द्रिका—स्व० म० म० राजारामशास्त्रिकृत	०—१२
वेदान्तडिण्डिम.	०—२
वैराग्यशतक—(भर्तृहरिकृत) प्राचीन संस्कृतटीका तथा महामहोपाध्याय पं० मिहिरचन्द्रकृत भाषाटीकासहित	०—८
वैराग्यशतक—साधु हरदयालकृत भाषाटीकासहित	०—१२
वैराग्यशतक—अप्यय्य दीक्षितकृत मूल तथा पं० रामस्वरूपशर्मकृत भाषाटीकासहित	०—३
शंकरदिग्विजयसार—संस्कृतटीकासहित	४-१२

[बडा सूचीपत्र अलग है मंगाकर देखना.]

पुस्तकें मिलनेका ठिकाना—

गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,

" लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर " स्टीम्-प्रेस.

कल्याण-मुम्बई.

अनन्तों ध्यांत इपना इवाो = पान =
२३५-/ वा पान = २५६/वा ३८६/ वा ३५-५/
वा ५३२/ देखो = पारब्रह्मीका अनन्तों सीध्यांत
पान = २३९ = सतनो म = ५४५-/ देखो = वा ५३२ = देखो

शान्ति प्रसाद श्याम पांडया

(गंगानगर) बिकानेर

गंगाजल पुजारी पांडुसर

पो : नोहर जिला बिकानेर